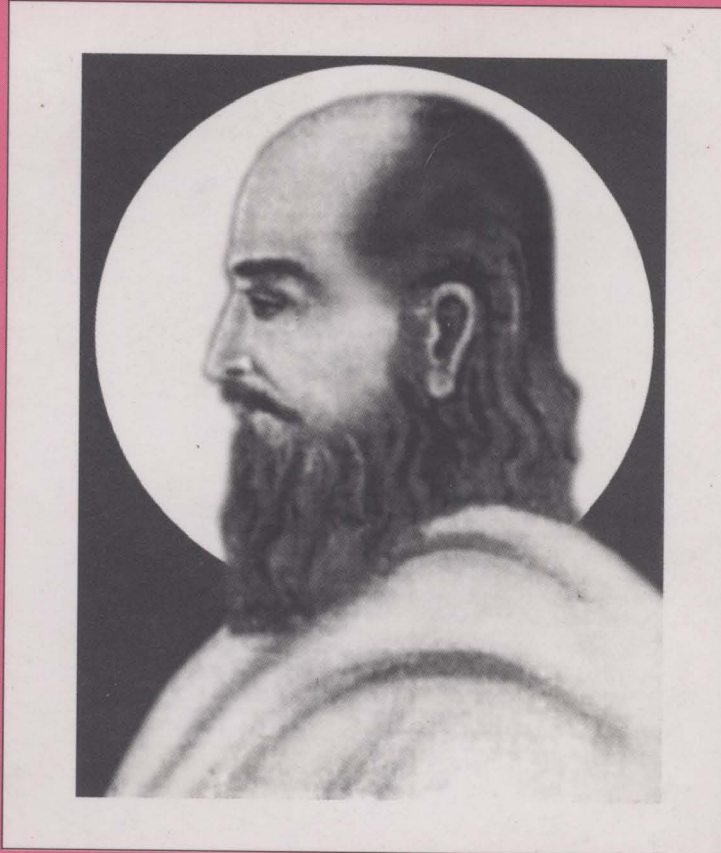




भारतीय साहित्य के निर्माता

आनंदघन

कुमारपाल देसाई



आनंदघन

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ - रानी माया की स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है । भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है ।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

आनंदघन

लेखक
कुमारपाल देसाई



साहित्य अकादेमी

Aanandghan (आनंदघन) :
A Monograph in Hindi by Kumarpal Desai
on the Medieval, Saint-Poet
Sahitya Akademi, New Delhi (2006), Rs. Twenty five

© Sahitya Akademi
First Edition : 2006

Published by :
Sahitya Akademi

Head Office :
Rabindra Bhavan, 35, Ferozeshah Road, New Delhi 110 001

Sales Department :
Basement in 'Swati', Mandir Marg, New Delhi 110 001

Regional Offices :
172, M.M.G.S. Marg, Dadar (East), Mumbai 400 014
Jeevan Tara, 23A/44X, Diamond Harbour Road, Kolkata 700 053
Central College Campus, Dr. Ambedkar Veedhi, Bangalore 560 001

Chennai Office :
Guna, 443 Anna Salai, Teynampet, Chennai - 600 018

ISBN 81-260-2234-5

मूल्य : 25 रूपये

Pagination At : Chandrika Printery, Mirzapur Road, Ahmedabad 380 001
Printed at : New Age Printing Press, Mumbai - 400 025

1

जीवन

प्रसिद्ध जैन कवि आनंदघन का पंथ एकलवीर का पंथ था। लोक प्रीति का मोह या गच्छ* प्रेम की मर्यादा उनको छू नहीं सकती थी। सत्योपासक के रूप में पड़ने वाले विघ्नों को सहन करने का उनमें आंतरिक साहस था। इतना ही नहीं लीक से हटकर आगे बढ़ने की आत्मशक्ति थी। वे आत्मज्ञान और चित्तसमाधि में लीन होकर अध्यात्म की अनुभूति को एक के बाद एक उन्नत शिखरों को सर करनेवाले मनमौजी साधक थे। उन्होंने संकुचितता की दीवारों और बाह्य आवरणों को दूर कर योग और अध्यात्म के दिव्य प्रदेशों में मुक्त विहार किया था। ऐसे साधक के समय में जैन समाज की जो धार्मिक परिस्थिति थी उसका स्पष्ट और निर्भीक प्रतिबिम्ब उनके स्तवनों में निरूपित हुआ है।

अनुश्रुतियों में लिपटा हुआ जीवन

आध्यात्मिक अनुभूति की अतल गहराई के पंथ पर चलने वाले व्यक्ति को प्रसिद्धि या ख्याति की परवाह कहाँ से होगी ? अवर्णनीय आत्मानंद की मस्ती में लीन रहकर जीनेवाले योगी को कीर्ति का प्रलोभन किस तरह आकर्षित कर सकता है ? प्रियतम प्रभु के दुर्लभ दर्शन के लिए पल-पल तड़पनेवाला अपने आप को कहाँ से याद रख सकता है ? नाम, प्रसिद्धि, स्थल या काल के सीमित बंधनों को पार करके जहाँ चित्त असीम गहराई में विहार करता है वहाँ ख्याति या कीर्ति की लुभावनी बातों के लिए अवकाश कहाँ से होगा ? ऐसी मोहक और लुभावनी भौतिक सीमाओं को पार करके जब व्यक्ति असीम अलक्ष को पाने का प्रयत्न करता है, तभी वह आनंदघन को, आनंद की पराकाष्ठा को पा सकता है।

आनंदघनजी का समय अनुमानतः ई. स. 1604 से ई. स. 1674 का माना जा सकता है। भारत के सियासी इतिहास की दृष्टि से यह समय शहनशाह अकबर के अंतिम वर्षों से लेकर जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन के पश्चात औरंगज़ेब के प्रशासन के आरंभिक 15 वर्षों तक फैला हुआ माना जा सकता है। आनंदघनजी की जन्मभूमि राजस्थान होने के कारण उनके जीवन के आरंभिक वर्ष राजस्थान में ही बीते ! इन वर्षों के दौरान राजस्थान का सियासी संघर्ष अपनी चरमसीमा पर था।

* जैन संप्रदाय की शास्त्रविशेष

2 : आनंदघन

ई. स. 1597 माह शुक्ला एकादशी के दिन महाराणा प्रताप का स्वर्गवास हुआ। राणा प्रताप के स्वर्गवास के पश्चात् भी मेवाड़ पर कब्ज़ा करने की अकबर की इच्छा उतनी ही तीव्र रही। उसने शाहजादे सलीम को महाराणा अमरसिंह के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा, पर असफल रहा। पुनः अपने प्रशासन के अड़तालीसवें साल ई. स. 1604 दशहरा के दिन शहजादे सलीम को विशाल सैन्य और शूरवीर सरदारों के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया, पर इस बार भी उसे सफलता नहीं मिली¹। ई. स. 1606 की कार्तिक शुक्ला 14 के रोज़ मंगलवार को शहनशाह अकबर का निधन हुआ और जहाँगीर को राजगद्दी मिली।

मेवाड़ की स्वतंत्रता और उसका अखंड गौरव जहाँगीर से बिलकुल बर्दाश्त नहीं होता था। अतः उसने मेवाड़ पर एक के बाद एक कई आक्रमण किये। शहजादा परवेज़, मोहब्बतखान और अब्दुल्लाखां की अगुआई में किये गए आक्रमण असफल सिद्ध हुए। नतीजा यह हुआ कि जहाँगीर खुद अजमेर आकर रहा। शहजादे खुर्रम को लड़ने के लिए भेजा और मेवाड़ को चारों ओर से घेर लिया।

मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह को सुलह करनी पड़ी। चारसौ वर्षों के मेवाड़-संघर्ष का अंत हुआ। पर इस सुलह के बाद भी मेवाड़ के महाराणा मुग़लों की जी-हजुरी करने की बजाय स्वतंत्र ढंग से ही व्यवहार करते थे। तत्पश्चात् अमरसिंह, कर्णसिंह, जगतसिंह और राजसिंह (प्रथम) मेवाड़ के सत्ताधीश बने। ई. स. 1719 की श्रावण शुक्ला² के दिन औरंगज़ेब मुग़ल राज्य का स्वामी बना। ऐसे समय में अपने धर्म की आराध्य मूर्तियों को बचाने के लिए सब मेवाड़ आ पहुँचे और मेवाड़ ने सभी को आश्रय दिया। उत्तर में मेवाड़ के महाराणा राजसिंह और दक्षिण में शिवाजी औरंगज़ेब के प्रखर प्रतिद्वन्दी बने। ई. स. 1671 में शिवाजी ने औरंगज़ेब के कब्जे के प्रदेश पर आक्रमण शुरू कर दिया।

आनंदघनजी के समय में गुजरात की राजनीतिक परिस्थिति पर नज़र डालें तो पता चलता है कि तब मुग़ल शहनशाह के सूबे गुजरात का राज-काज चलाते थे। ई. स. 1701 से ई. स. 1706 के दौरान मिर्जा अज़ीज़ लोला ने आग्रा में रहते हुए गुजरात का राज-काज देखा। बादशाह जहाँगीर के शासनकाल के दौरान गुजरात में लगभग आठ के करीब मुग़ल सूबेदार आ चुके थे। जहाँगीर अपने स्मृतिग्रंथ 'तुजुके जहाँगीरी' में इस बात का उल्लेख करते हैं कि गुजरात की मुलाकात लेने की वे तीव्र इच्छा रखते थे। जो पहले कभी न किया था, वह हाथी का शिकार करने के लिए और पहले जो कभी नहीं देखा था ऐसा लवण समुद्र देखने के लिए जहाँगीर गुजरात में आया। खंभात में दस दिन उन्होंने समुद्री सफर का आनंद उठाया और पंचमहाल के जंगलों में हाथी का शिकार किया। शाहजादा शाहजहाँ ने जहाँगीर के खिलाफ विद्रोह किया और इस आंतरविग्रह का असर गुजरात पर पड़ा। शाहजहाँ के शासन के दौरान आरंभिक आठ वर्षों में गुजरात में पाँच सूबेदार बदले गए। सन् 1701 में गुजरात के इतिहास में एक उल्लेखनीय घटना घटी। बादशाह शाहजहाँ ने २७ वर्षीय औरंगज़ेब को गुजरात के सूबेदार के रूप में भेजा। इस समय में औरंगज़ेब की परधर्म के प्रति असहिष्णुता स्पष्टतः लक्षित होती है।³ दाराशिकोह,

शाहस्तखान और मुरादबख गुजरात के सूबेदार बनकर आये और उस समय मुगल शहनशाहत हाँसिल करने के लिए जहाँगीर के बेटों ने जो सियासी षड्यंत्र किए, उसका गुजरात पर काफी प्रभाव पड़ा ।

ई. स. 1655 में औरंगज़ेब ने गुजरात की प्रजा पर धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों को मनाने के लिए पाबंदी लगा रखी थी । दिवाली की रात को की जानेवाली रोशनी और होली के त्यौहार पर प्रज्वलित की जाने वाली होली का उसने विरोध किया । इन सब जानकारियों का उल्लेख 'मिराते अहमदी' के फरमानों में है ।⁴

इस तरह आनंदघनजी के समय के दौरान राजस्थान की स्थिति राजनीतिक संघर्षों से शिक्षुब्ध रही, तो गुजरात के सूबेदार के रूप में औरंगज़ेब का आगमन होने के कारण गुजरात की धार्मिक स्थिति भी डौंवाडोल रही । धर्मरक्षक साधुसंतो का अडिग सांस्कृतिक दुर्ग उसके सामने टक्कर झेल रहा था । इसी वजह से इस समय की विशेष ऐतिहासिक घटनाओं या आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन सियासी या प्रजालक्षी इतिहास में महत्त्वपूर्ण बन जाता है, लेकिन आनंदघन जैसे साधक के जीवन और कृतित्व के लिए अन्य जानकारियों मायने नहीं रखती हैं । ऐसे साधक तो बहिर्मुख सृष्टि के रसाभासों में फँसे बिना विश्व के अंतरंग में विराजमान परम चैतन्य के साथ समाधिस्थ रहते हैं । दुनिया की सुख-सुविधा को जंजाल मानकर वे जगत की यवनिका के पीछे छिपे परमतत्त्व को खोजने का प्रयास करते थे । चर्मचक्षु के द्वारा जिस पदार्थ की थाह नहीं ली जा सकती, उसे अंतर्चक्षु के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते । आनंदघन के जीवन और कृतित्व में नकद सत्य की खोज की चाह थी । बाह्य परिस्थिति, आस-पास की प्रवृत्तियों का बवंडर और दृश्यमान घटनाओं को पार करके वे परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते थे ।

योगी आनंदघन के समय में जैन धर्म की परिस्थिति देखें । विक्रम की सोलहवीं सदी में जैन भंडारों में शुद्ध पाण्डुलिपियाँ तैयार करने की तथा भंडारों को व्यवस्थित करने की ज्ञानप्रवृत्ति प्रारंभ हो गई थी । उसके साथ-साथ साहित्यसृजन की प्रवृत्ति का भी विकास होने लगा था । विक्रम की सतरहवीं सदी में अकेले तपागच्छ में ही बावन पंडित हो गए ।⁵ कई सालों के बाद धर्मप्रवृत्ति के लिए ऐसा अनुकूल समय आया था ।

दूसरी ओर जैन साधु ज्ञान और वैराग्य द्वारा जैन धर्म के प्रभाव का प्रसार कर रहे थे । तपागच्छ के हीरविजयसूरि ने शहनशाह अकबर को जैन धर्म का स्वरूप समझाया था । जैन धर्म के पाँच व्रतों का उपदेश दिया था । अकबर ने इस जैन सूरि को कुछ उपहार देने की हार्दिक अभिलाषा प्रकट की, लेकिन तब इन्होंने जवाब दिया कि अपरिग्रही साधु के लिए कोई भी उपहार अस्वीकार्य है । बादशाह अकबर ने अत्यंत आग्रह किया, तो हीरविजयसूरि ने कहा कि, बंदियों को कैद में से मुक्त कर दीजिए और पिंजरे में कैद पंछियों को आज़ाद कर दीजिए । इसके अलावा पर्युषण के आठ दिन हिंसा पर निषेध फरमाइए । उन आठ दिनों में बादशाह ने अपने चार दिन जोड़कर बारह दिन समग्र राज्य में 'अमारि' प्रवर्तमान हो, ऐसा फरमान

4 : आनंदघन

किया।⁶ इस समय हीरविजयसूरि को 'जगद्गुरु' का बिरुद दिया गया। अकबर पर अहिंसा की भावना का प्रभाव इतना अधिक हुआ कि एक साल में छः महिने किसी भी तरह की जीवहत्या न करने का हुक्म बाद में जारी किया।⁷ हीरविजयसूरि के बाद शांतिचंद्रसूरि और भानुचंद्रसूरि ने अकबर के दरबार में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया।

भानुचंद्रसूरि ने शत्रुंजय तीर्थयात्रा के लिए आनेवाले यात्रियों पर लागू किया गया कर माफ करने की विनती की और अकबर ने उसका स्वीकार किया। इसके बाद विजयसेनसूरि अकबर के आमंत्रण का मान रखते हुए दिल्ली गये। वहाँ बादशाह के दरबार के 366 ब्राह्मणों को वाद-विवाद में हराया। इसलिए बादशाह अकबर ने विजयसेनसूरि को 'सवाई हीरविजयसूरि' (हीरविजयसूरि से भी उत्तम) बिरुद दिया। विजयसेनसूरि ने अहमदाबाद के सूबेदार मिर्जा अज़ीज कोका को भी अपने उपदेश से प्रसन्न किया।⁸ सिद्धिचंद्रसूरि की शतावधानी शक्ति देखकर बादशाह अकबर ने उनको 'खुशफहम' की सम्मानपूर्ण पदवी प्रदान की। 'आइने अकबरी' में अकबर के दरबार के विद्वानों की सूचि में आनेवाले 'हरिजीसुर', 'बिजइसेनसुर' और 'भानुचंद्र' - ये तीन नाम क्रमशः हीरविजयसूरि, विजयसेनसूरि और भानुचंद्र उपाध्याय के नाम सूचित करते हैं।⁹ श्री विजयसेनसूरि की गद्दी पर आये श्री विजयदेवसूरि की तपस्या से प्रभावित होकर बादशाह जहाँगीर ने मांडवगढ़ में उन्हें "जहाँगीरी महातपा" का बिरुद दिया। उपाध्याय विवेकहर्षने कच्छ के राजा भारमल्ल (ई. स. 1586 से 1632) को उपदेश दिया और राज्य में अहिंसा की भावना का प्रसार किया। इस समय के दौरान अहिंसा के प्रवर्तन में, जजियाकर दूर करने के क्षेत्र में तथा धर्मतीर्थों की रचना करने एवं संघ निकालने के क्षेत्र में जैनधर्मियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

तपागच्छ के श्री विजयदेवसूरि और विजयप्रभसूरि के समय में धर्मप्रवृत्ति और धर्ममहोत्सव होते रहे। इसके बाद तपागच्छ में कुछ कारणों से दो आचार्यों की आवश्यकता महसूस होने पर श्री विजयदेवसूरि और श्री विजयआनंदसूरि को गच्छाधिपति बनाया गया, लेकिन आगे चलकर इसमें से तपागच्छ के दो विभाग बन गए। एक शाखा 'देवसुर' और दूसरी शाखा 'अणसुर' के रूप में पहचानी जाती।

श्री विजयसिंहसूरि के शिष्य श्रीमद् सत्यविजयजी ने सूरिपद का स्वीकार करने के बदले साधुसमाज में व्याप्त आचारशिथिलता को दूर करने के लिए क्रियोद्धार करने की अनुमति गुरुजी से प्राप्त की। तीव्र वैराग्य अपनाते हुए श्रीमद् सत्यविजयजी ने धर्मप्रभावना के लिए प्रयत्न किये। हालाँकि उस समय के समाजने उन्हें उत्साहपूर्ण प्रतिभाव नहीं दिया। इसमें उपाध्याय यशोविजयजी ने पं. सत्यविजयजी का साथ दिया। यही सत्यविजयजी आनंदघनजी के बड़े भाई थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। इस तरह सत्यविजयजी, आनंदघनजी और यशोविजयजी समकालीन थे।

आनंदघनजी के समय की जैन धर्म की परिस्थिति का विचार करें, तो तीन

प्रखर साधुपुरुष समाज को तेजोमय प्रकाश से आलोकित कर रहे थे। पं. सत्यविजयजी में क्रिया, आनंदघनजी में योग और यशोविजयजी में ज्ञान — इस प्रकार आत्मज्ञान के तीन अंगों का त्रिवेणीसंगम हुआ था। ये तीनों पुरुष एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ तादात्म्य रखते थे, पर फिर भी अपने साधनामार्ग की अनोखी शैली को उन्होंने बनाये रखा था। पं. सत्यविजयजी के साथ आनंदघनजी का और यशोविजयजी और आनंदघनजी के साथ श्री सत्यविजयजी का मिलाप प्रमाणसिद्ध है। पं. सत्यविजयजी ने क्रिया-उद्धार के लिए सूरिपद का स्वीकार नहीं किया था। वे संवेगमार्ग पर आगे बढ़े।¹⁰ आनंदघनजी तो निजानन्द की मस्ती में डूबे हुए योग और अध्यात्म के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले योगी थे। इसी तरह उपाध्याय यशोविजयजी ज्ञानी और दीर्घदर्शी महात्मा थे। इन तीनों साधुपुरुषों ने अपने साधुसमाज में प्रवर्तमान शिथिलता देखकर उस पर पर्दा डालने की बजाय उस पर स्पष्ट शब्दों में प्रहार करके सच्चे मार्ग की ओर अंगुलिनिर्देश किया।

आनंदघनजी के स्तवनों से उस समय की धार्मिक स्थिति का परिचय मिलता है। इस समय के दौरान तपागच्छ के 'देवसुर' और 'अणसुर' — ऐसे दो बड़े पक्ष भेद चलते थे। सागर गच्छ का भी उस समय में काफी जोर था।¹¹ फिर श्वेतांबर मूर्तिपूजक में से अलग होकर लुकामत और अन्य मत चल पड़े। उनके साथ भी विरोध जुड़ा रहा। ई. स. 1561 में धर्मसागर ने तपागच्छ ही सही है और बाकी सभी गच्छ गलत है, ऐसा बताकर उग्र प्रहार करनेवाले ग्रंथों की रचना की¹² जिसकी वजह से जैन समाज में विभिन्न गच्छों के बीच अशांति का वातावरण पैदा हुआ। "मिराते अहमदी" में भी जैन समाज में 84 गच्छ अस्तित्व में थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। ऐसे गच्छ में ही लीन रहनेवाले और संप्रदायवाद के युद्ध में अपनी वीरता दिखानेवालों पर प्रहार करते हुए आनंदघन कहते हैं कि संकुचित संप्रदायवाद के दलदल में धँसे हुए इन लोगों के मुँह से अनेकांतवाद* की बात कितनी बेतुकी लगती है। गच्छ के भेदाभेद को बनाये रखते हुए अपना मान, महत्व और गौरव बढ़ाने की प्रयुक्तियाँ करनेवाले तथा दूसरों को हीन साबित करनेवालों के प्रति आनंदघनजी का प्रकोप ज्वालामुखी की तरह फट पड़ता था। कूपमंडूक इन्सान को तत्व की बात करने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा वे कहते हैं।

यहाँ समकालीन परिस्थिति की विपरीतता पर प्रहार करने का इरादा नहीं है, किंतु इन शब्दों में योगी के अंतर्मन को वेदनादीर्ण कर देनेवाली दारुण परिस्थिति के खिलाफ वेदनापूर्ण चीत्कार है —

“गच्छना भेद बहु नयन निहालतां

तत्त्वनी वात करतां न लाजे ।

उदर भरणादि निज काज करता थकां

मोह नडीआ कलिकाल राजे ।”¹³

* वस्तु में एक ही समय अनेक क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती विरोधी धर्मों, गुणों, स्वभावों व पर्यायों के रूपमें भली प्रकार प्रतीति के विषय बनने हैं। जो वस्तु किसी एक दृष्टि से नित्य प्रतीत होती है वही किसी अन्य दृष्टि से अनित्य प्रतीत होती है। यही अनेकान्तवाद है।

6 : आनंदघन

(अर्थात् विविध गच्छों के भेद निहारकर तत्त्व की बात करनेवाले इन गच्छाधिपतियों को लाज नहीं आती। पेट भरने की वृत्ति से ही इनके सारे कर्म प्रेरित होते हैं और कलिकाल में मोह के कारण ये राजकर्ता बने बैठे हैं।)

सारा जगत भूल-भूलैया में खोया है। कोई तर्क के मार्ग से ईश्वर को पाना चाहता है तो कोई क्रिया से प्रभुमार्ग पर चलता है। गुरु से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि गुरु स्वयं ही अज्ञान में भटक रहे हैं।

आनंदघनजी के समकालीन श्रीमद् यशोविजयजी ने “श्री सीमंधर-स्वामीनी विनतिरूप नयरहस्य गर्भित सवासो गाथानुं स्तवन” रचा है, उसमें भी अपने समय की गुरुओं की दशा उद्घाटित करते हुए वे कहते हैं —

कुगुरुनी वासना पासमां, हरिण परि जे पड्या लोक रे;
तेहने शरण तुज विण नहीं, टलवले बापडा कोक रे. स्वामि०२
ज्ञानदर्शनचरण गुण चिना, जे करावे कुलाचार रे,
लूटिया तेणे जगि देखतां, किहां करे लोक पोकार रे? स्वामि०३
जेह नवि भव तर्या निरगुणी, तारसे केणी परि तेंह रे ?
इम अजाण्या पंडे फंदमां, पापबंधे रह्या जेह रे. स्वामि०४¹⁴

(अर्थात् कुगुरु के वासना पाश में फँसे शिष्य कस्तूरी के पीछे भागनेवाले हिरन की तरह व्यर्थ दौड़ लगा रहे हैं। ज्ञान, दर्शन और गुण के बिना जो व्यर्थ कुलाचार में डूबे हैं, वे लुटेने के बाद व्यर्थ चिल्लाते हैं। जो स्वयं भय पार करके मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, वह दूसरों का क्या तारणहार बनेगा ? इस तरह अनजाने फंदे में फँसकर पाप बाँधकर ये घूमते रहते हैं।)

आगमशास्त्र के प्रमाण से यदि वस्तुतत्त्व पर विचार किया जाए तो कहीं भी सच्ची साधना के दर्शन नहीं होते। अरे, कहीं पाँव तक रखने की जगह नहीं है। इष्ट वस्तु को उसके सच्चे स्वरूप में कहनेवाले तो जगत में दुर्लभ ही है। अन्यथा अन्यत्र तो अंधे के साथ अंधा टकराये, ऐसे अज्ञान और अंधकार की टकराहट ही देखने को मिलती है —

“पुरुषपरंपर अनुभव जोईइ,
अंधोअंध पिलाय
वस्तुविचारें रे जो आगम करी रें,
चरण धरण नहीं ठाय ।”¹⁵
“तरक विचारे रे वादपरंपरा
पार न पुहचे रे कोई,
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे
ते विरलो जगि कोय ।”¹⁶

‘श्री अभिनंदन जिन स्वरूप’ में कवि की ठीक वैसी ही अकुलाहट प्रकट होती है। उसे तो जीवन और मरण की पीड़ा दूर करनी है। सच्चिदानंद के दुर्लभदर्शन की प्राप्ति करनी है। तर्क से वहाँ नहीं पहुँचा जा सकता। आगमशास्त्र* उसका मार्ग

* सूत्ररूप में ग्रंथ तीर्थकरों के उपदेश को आगमशास्त्र कहते हैं।

दिखाते हैं, पर वह समझने के लिए योग्य गुरु के अभाव में बड़े विवाद होते हैं। आखिरकार 'एकला चलो रे' मानकर इस दुष्कर मार्ग पर आगे बढ़ता हूँ। कोई साथी नहीं मिलता। प्रभु के दर्शन की तड़पन कैसे छिपाऊँ ? दूसरे मत को माननेवाले से यदि पूछूँ, तो वह अपने ही मार्ग का प्रतिपादन करता है। सत्य के स्थान पर सर्वथा मत का ही ममत्व देखने को मिलता है।

“मतमत भेदें रे जो जई पूछीइ,

सहू थापे अहमेव”¹⁷

मतमतांतर और वादविवाद के जाल में चित्त गुमराह हो जाता है। उसे कोई मार्ग सूझता नहीं है। एक ओर दर्शन की लगन उसे बेचैन बनाती है, तो दूसरी ओर कहीं भी प्रकाश न दिखाई देने के कारण हृदय अकुलाहट से व्यग्र हो जाता है —

“इम अनेक वादी मत विभ्रम
संकट पडिओ न लाहे,
चित्तसमाधि ते माटे पूछुं
तुम विण तत कोई न कहे।”¹⁸

भौतिक सुख में डूबे इन्सान आत्मा के अनंत सुख को भूल गए हैं। पिंजरे में कैद तोता मुक्ति का आनंद भुला बैठा है। जगत के लोग माया, कामना या वासना के मोह में फँसे हुए हैं। गच्छ के वितंडावाद में वैराग्य को भुला बैठे हैं और फिर नाभि में कस्तूरी होने के बावजूद कस्तूरी की खोज में कस्तूरीमृग की तरह यहाँ-वहाँ भटकते रहते हैं। इस रागी को विराग की झलक कैसे मिल सकती हैं ? मोह में फँसे इस निर्मोही का दीदार कैसे हो ? इसके लिए तो सर्वस्व त्याग करके अध्यात्म से प्रीति लगानी पड़ेगी। मनमधुकर को प्रभु के चरणों में समर्पित करना पड़ेगा। लेकिन जगत की दशा ऐसी विचित्र है कि उसके पास भंडार होने के बावजूद वह कौड़ी की तलाश में यहाँ-वहाँ भटक रहा है —

परमनिधि परगट मुख आगले

जगत उल्लंघी हो जाय । जि.

ज्योति विना जूओ जगदीसनी

अंधो अंध मिलाय । जि.¹⁹

(अर्थात् परमनिधि यानी कि आत्मा का उत्कर्ष एकदम सामने ही है, फिर भी ज्ञानरूपी ज्योति के बिना ईश्वर की झलक संभव नहीं और अंध को अंधा मिले, कुछ ऐसी स्थिति बनी रहती है।)

आनंदघनजी के समय में धार्मिक मतभेद अत्यंत तीव्र ढंग से प्रवर्तमान थे और परिणाम स्वरूप जैन धर्म के अनुयायी श्रावक या साधुजन सही मार्ग से विमुख थे। उपाध्याय श्री यशोविजयजी आनंदघन के समकालीन थे और उन्होंने इस वैराग्य-धर्म में व्याप्त वैभव और विषयों की “धामधूम” के खिलाफ चेतावनी देते हुए लिखा है —

“विषयरसमां गृही माचिया नाचिया कुगुरुमदपूर रे

धूमधामे धमाधम चाली, नाचिया ज्ञानमारग रह्यो दूर रे” स्वामि०७

8 : आनंदघन

“कलहकारी कदाग्रह भर्या, थापता आपणा बोल रे,
जिनवचन अन्यथा दाखवे, आज तो वाजते ढोल रे.” (ढाल 1, कडी 7,8)
(अर्थात् विषयरस में मग्न होकर मद में चकचूर होकर धामधूम में धमाधम
चलकर कुगुरु नाचते रहे और ज्ञानमार्ग उनसे दूर ही रहा ।

कलहरूपी कीचड को हमारे वचन थोपते रहे । जिनवचनों पर कहीं और
अमल करेंगे, आज तो ढोल बज रहे हैं ।)

आनंदघन आत्मानंद में लीन साधक थे । साधुजीवन अपनाते के पश्चात्
रागद्वेष, मोह और ममत्व से ग्रसित रहना, साधुजन को आत्मा से विमुख कर देता है,
उसे ध्येयभ्रष्ट कर देता है । इसीलिए ‘श्री वासुपूज्य जिनस्तवन’ के समापन में उसे ही
आनंदघन मत का संगी मानते हैं, जो आत्मज्ञानी है —

आतमज्ञानी श्रमण कहाये,
बीजो द्रव्यत लिंगी रे,
वस्तुगतें जे वस्तु प्रकासैं
आनंदघन मत संगी रे”²⁰

(अर्थात् आत्मज्ञानी या श्रमण वही कहलायेगा जो अन्य द्रव्यों के प्रति दुर्लक्ष
रखेगा । भौतिकता से दूर रहकर जो प्रकाशित है, आनंदघन के अनुसार वही मत
का संगी है ।)

अध्यात्मयोगी आनंदघन के कृतित्व से उनके जीवन के बारे में कोई जानकारी
नहीं उपलब्ध होती है । साधना के प्रचण्ड दावानल में सांसारिक जीवन की क्षुद्र बातें
न जाने कहाँ भस्म हो जाती हैं । उनके कृतित्व से एक निजानंदी, संसार से बिल्कुल
बेपरवाह और परमात्मा के मार्ग पर ऊर्ध्व प्रयाण करने वाले मुमुक्षु की प्रतिभा
स्वयमेव उभर आती है । भौतिक जगत के झंझट उसे छू नहीं सकते । आत्मिक धर्म
के नाम पर चलनेवाली और फूलने-फलनेवाली वादविवाद तथा मतमतांतरों की
दुनिया के प्रति आनंदघन को भारी घृणा थी । उनके कृतित्व से ही आत्मसाधना के
मार्ग से परमात्मा को पाने के लिए प्रयत्न करनेवाले सच्चे साधक का व्यक्तित्व
जानने को मिलता है । आत्मा जब परमात्मा बन जाती है, तब योगी आनंदघन के
अंतर से अपने आप आत्मा और परमात्मा की एकरूपता का अनुभव शब्दस्थ होकर
प्रकट होता है —

“अहो हूं अहो हूं मुझने कहुं,
नमो मुझ नमो मुझ रे ।”²¹

साधना की पहली शर्त अहम् भाव और अपनेपन का त्याग है । अहंत्व और
ममत्व के मोह को मारकर ही इस मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं । साधक आनंदघन तो
अपने प्रीतम ऋषभ जिनेश्वर के साथ प्रीत लगाकर बैठे हैं । यह प्रीत ऐसी है कि जो
एक बार जग जाती है तो जन्म-जन्मान्तर तक भी नहीं छोड़ती । यह आदि अनंत
है । जिसका आरंभ है, पर छोर नहीं है । जो एक बार बंधता है तो मृत्यु या काल
के बंधन भी उसे नहीं छेद सकते । प्रभु की प्रीति में ऐसी लगन लगाकर बैठा
साधक अपने आपको परमात्मा में जाने कब का विलोपन करके बैठा होता है ।

ऐसे अलक्ष्य को लक्ष्य करनेवाले संतों की परम उज्ज्वल परम्परा के मध्यकालीन साहित्य में दर्शन होते हैं। मध्यकालीन साहित्य में गुजराती कवि प्रेमानंद या गुजराती पद्यवार्ताकार शामिल जैसे सर्जक कृति के अन्त में अपना परिचय देते हैं। अपना नाम, जाति, स्थल और कृति का प्रयोजन दर्शाते हैं, जबकि आनंदघन की किसी भी कृति में ऐसा परिचय उपलब्ध नहीं होता। कवि का उपनाम आनंदघन है और कहीं कहीं उन्होंने अपना मूल नाम लाभानंद का निर्देश किया है।

मात्र एक पद में इस मस्तविहारी आत्मसाधक ने अनोखे ढंग से अपनी पहचान दी है। इस पद से उनकी आनंदमयता का ही पता चलता है। आनंदघन के माता-पिता कौन थे ? उनकी जाति या कुल क्या था ? इन सभी बातों को वे आनंदघन के रूप में पहचान कराते हैं। सच्चिदानंद की परम अनुभूति के समय साधक का व्यक्तित्व उसमें अधिक ओत-प्रोत हो जाता है, उसे इस पद में दिखाते हैं

मेरे प्रान आनंदघन, तान आनंदघन,
मात आनंदघन, तात आनंदघन,
गात आनंदघन, जात आनंदघन । मेरे. 1
राज आनंदघन, काज आनंदघन,
आज आनंदघन, लाभ आनंदघन । मेरे. 2
आभ आनंदघन, गाभ आनंदघन,
नाम आनंदघन, लाभ आनंदघन । मेरे. 3

इस पद की पंक्ति-पंक्ति से तरंगित होते आध्यात्मिक आनंद की मस्ती की छलक अनुभवित होती है। साधक की अवर्णनीय दशा की मस्ती के इन शब्दों में तादृश दर्शन होते हैं।

मस्तयोगी आनंदघन के जीवन के बारे में अत्यन्त अल्प जानकारी मिलती है। इसलिए ही उनके जीवन के आसपास अनेक दंतकथाएँ आच्छादित कर उसे प्रस्तुत किया गया है। आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वरजी ने 'श्री आनंदघन पद संग्रह' में ऐसी उन्नीस किंवदंतियों (दंतकथाओं) का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें से कुछ कथाओं का श्री मोतीचंद कापड़िया ने 'श्री आनंदघननां पदो, भा. १' में निरसन किया है, तो कुछेक का स्वीकार भी किया है।

इन दंतकथाओं को आधाररूप मानकर ही आज तक आनंदघन के जीवन-चरित्र का आलेखन करने का प्रयत्न हुआ है। इन किंवदंतियों के लिए कोई मजबूत आधार या प्रमाण नहीं मिलता है। यद्यपि ये दंतकथाएँ उस अध्यात्मयोगी की अध्यात्म मस्ती की सूचक हैं। कुछेक दंतकथाएँ तो उनके सर्जन की किसी एक पंक्ति को आधार बनाकर रची गई हैं; जैसे कि मेड़ता में उपाश्रय बनानेवाले सेठ को व्याख्यान में आने में बिलम्ब हुआ। श्री आनंदघनजी ने तो अपना व्याख्यान निश्चित समय पर शुरू कर दिया था। व्याख्यान पूरा हुआ तब उस सेठ ने आनंदघनजी को कहा - "साहब ! कपड़े बहोरता हूँ, आहार बहोरता हूँ, परिचर्या करता हूँ उसका ध्यान रखकर थोड़ी देर रुकना तो था !"

10 : आनंदघन

कहा जाता है कि यह सुनकर गुस्सा किए बिना बोले, “भाई ! आहार तो खा गये और ले अपने ये कपड़े” - ऐसा कहकर वे कपड़े छोड़कर जंगल में चले गये और वहाँ “आशा औरन की क्या कीजे” यह पद उनके हृदय से फूट निकला ।

उन्नत आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करनेवाला आनंदघनजी का यह पद मिलता है । सांसारिक सुखों की माया में डूबे हुए लोगों को आशारहित होकर ज्ञान सुधारस पीने का बोध दिया है । इस पद में कहीं भी जगत के सुख-दुःख के किसी अनुभव की (जरा सी) झलक भी नहीं दीखती है ।

इसी तरह एक राजा के मिलन के समय बुखार को कपड़े में उतारकर उन्होंने उस कपड़े को बगल में रख छोड़ा था । उस कपड़े को काँपते हुए देखकर मिलने के लिए आये राजा ने इसके बारे में पूछा था ऐसी कथा मिलती है । वास्तव में, सिर्फ आनंदघनजी के बारे में ही नहीं, बल्कि श्री हेमचंद्राचार्य, श्री हरिभद्रसूरि और श्री हीरविजयसूरि के जीवन के बारे में भी ऐसी दंतकथाएँ मिलती हैं ।

आनंदघनजी के जीवन की ऐसी दंतकथाओं को कई लेखकों ने विस्तारपूर्वक और छटादार शैली में निरूपित किया है, ये दंतकथाएँ उनकी अनासक्ति और वैराग्य पूर्ण जीवन को प्रतिबिंबित करती हैं । यहाँ उनके बारे में जो आधारभूत सामग्री मिलती है उसे देखें ।

मूल नाम

‘आनंदघन’ यह उपनाम है । उनकी दीक्षाकाल (अवस्था) का नाम लाभानंद है । उनकी चौबीसी पर स्तबक (टबो) लिखनेवाले श्री ज्ञानधिमलसूरि बाइस स्तवनों के स्तबक के अंत में लिखते हैं -

“लाभानंदजी कृत स्तवन एतला 22 दीसई छई । यद्यपि हस्यें तोहई आपण हस्ते नथी आव्या । अने आनंदघननी संज्ञा ते स्वनामनी करी छई । ऐहवुं विंग (व्यंग्य) स्वरूप मुक्याथी जणाई छई ते जाणवुं ।”

इसी तरह श्री देवचन्द्रजी ने ‘विचार रत्नसार’ पुस्तक में आनंदघनजी के धर्मनाथ जिनस्तवन का

“प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे देखें
परम निधान ।”

यह चरण अवतरण के रूप में उद्धृत करके “ऐसा श्री लाभानंदजी ने कहा है ।” ऐसा लिखा है ।

इस तरह “मेरे प्रान आनंदघन” इस पद में (रचनाकारने) अंत में “लाभ आनंदघन” ऐसा लिखा है, इसमें भी कवि ने अपने लाभानंद नाम की ओर कदाचित संकेत किया है ऐसा मान सकते हैं । उन्होंने अपनी रचनाओं में “आनंदघन” उपनाम रखा है ।



टिप्पण

1. 'राजपूताने का इतिहास', दूसरी जिल्द, ग्रंथकर्ता श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा, वि. सं. 1688, पृ. 790
2. 'Tazuk-i-Jahangiri', Vol.1, p. 401
3. 'Imperial Mughal Farmans in Gujarat', M. S. Commissariat, Journal of the University of Bombay, Vol. IX, Part I, p. 39-41
4. 'मिराते अहमदी', मूल लेखक : श्री अली महुम्मदखान, अनुवादक : श्री निझामुद्दीन चिस्ती, ई. स. 1913
5. 'श्री आनंदघनजीनां पदो', लेखक : मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, पृ. 65, ई. स. 1956
6. 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास', लेखक : मोहनलाल दलीचंद देसाई, पृ. 547, ई. स. 1933
7. 'History of Gujarat', Vol. II, M. S. Commissariat, p. 242
8. 'शांतिचंद्र उपाध्यायकृत भानुचंद्रचरित्र', संपादक : मो. द. देसाई, पृ. 552
9. 'Ain-I-Akbari by Abul Fazl-I-Allami', By. Colonel H. S. Jarrett, Revised by Sri Jadunath Sarkar
10. 'जैन ऐतिहासिक रासमाळा' भाग-१, संशोधक : मोहनलाल दलीचंद देसाई, प्रथम आवृत्ति, पृ. 43, वि. सं. 1969
11. 'श्री आनंदघन पदसंग्रह', रचयिता : आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी, पृ. 125, ई. स. 1954
12. 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास', लेखक : मोहनलाल दलीचंद देसाई, पृ. 562, ई. स. 1933
13. इसी लेखक की पुस्तक 'आनंदघन : एक अध्ययन'में संशोधन के बाद दी गयी हस्तप्रतोंकी प्रशिष्ट वाचना में से : स्तवन 14, गाथा 3
14. 'श्रीमद् यशोविजयोपाध्याय विरचित गूर्जर साहित्य संग्रह', प्रथम विभाग, प्रकाशक : शाह बाबचंद गोपालजी, प्रथम आवृत्ति, पृ. 212
15. 'आनंदघन : एक अध्ययन', संपा. कुमारपाळ देसाई, ई. स. 1980, स्तवन, 2 : 3
16. वही । स्तवन 2 : 4
17. वही । स्तवन 4 : 1
18. वही । स्तवन 20 : 7
19. वही । स्तवन 15 : 6
20. वही । स्तवन 12 : 6
21. वही । स्तवन 16 : 13

2

कृतित्व

मेघधनुष के मनोहारी रंगों जैसी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा भिन्न-भिन्न शब्द-लीलाओं का सृजन करती है। आत्मा की मस्ती में तल्लीन हुए साधक को पल-पल विरल और विलक्षण अनुभूतियाँ होती रहती हैं। ये अनुभूतियाँ जब शब्ददेह के रूप में प्रस्तुत होती हैं तब उसके इतने अधिक भिन्न स्वरूप होते हैं कि ये एक ही व्यक्ति के अंतर का आविष्कार है ऐसा मानने के लिए मन नहीं करता। कवि आनंदघन के स्तवनों और पदों के साथ लगभग ऐसा ही हुआ है। कवि आनंदघन के स्तवन और पद्य उपलब्ध होते हैं। इन स्तवनों में कवि आनंदघन द्वारा रचित स्तवनों और पद्यों की हस्तप्रतें हैं। हस्तप्रत भंडारों में ये रचनाएँ 'आनंदघन बावीसी' और 'आनंदघन बहोतेरी' के नाम से जानी जाती हैं। 'आनंदघन बावीसी' में बाईस स्तवन हैं जबकि जैन धर्म के कुल चौबीस तीर्थंकर हैं और सामान्यतः चौबीस स्तवन ही मिलते हैं। आनंदघन के नाम पर तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के स्तवन उपलब्ध होते हैं लेकिन वे अन्य के कृतित्व मालूम पड़ते हैं। हो सकता है, परम्परा का अनुसरण करते हुए अन्य कवियों ने इसी प्रकार चहुर्विंशतिका जिनस्तवन पूरा किया हो। स्तवनों और पदों अतिरिक्त अलग अलग हस्तप्रतों में आनंदघन की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इन अप्रकाशित रचनाओं में कुछ तो आनन्दघन रचित हैं लेकिन कुछ संदेहास्पद हैं। इन के अंत में आनंदघन का नाम लिखा मिलता है लेकिन यह मानना कठिन है कि ये सभी आनंदघन की रचनाएँ हैं। प्रभाती स्तवन 'नानी बहुनुं अने मोटी बहुनुं पद' जैसी रचनाएँ शंकास्पद लगती हैं जबकि 'ऋषभजिननुं पद' जैसी रचनाएँ आनंदघन रचित लगती हैं।

स्तवन में गहन सिद्धांत बोध, मार्मिक चारित्रदृष्टि और कसौटी पर कसकर आनेवाला योगानुभव ध्यान आकर्षित करता है, जबकि पदों में उर्मिओं का कवित्वमय उछाल, भावोन्मुख वाणी और बिजली की तरह अंतर से प्रकट हुई, उल्लास से भरपूर अनुभूति मिलती है। स्तवनों में आनंदघन जैनशास्त्र की परिभाषा के परिवेश में गहन योगवाणी का आलेखन करते हैं। जब वे पदों में कहते हैं :

“वेद न जाणुं कतेब्र न जाणुं, जाणुं न लक्षण छन्दा,
तरकवाद विवाद न जाणुं, न जाणुं कवि फंदा । अ. २”

(आनंदघन ग्रंथावली, पद 10)

पदों की भाववाही वाणी में भक्ति और वैराग्य के उल्लास की लहरें उछलती हैं । स्तवनों में अनुभवी भक्त और शास्त्रों की वाणी है, जबकि पदों में कवि की वाणी है । स्तवनों में विचार गांभीर्य है, तो पदों में परमतत्त्व के साथ अनुसंधान का उछलता हुआ आनंद संवेदन है । स्तवन की भाषा जैन परिभाषा के लिबास में है, तो पदों में प्रेमलक्षणा भक्ति का उद्गार सुनाई देता है । स्तवन में जैनशास्त्र की दृष्टि से आलेखित आत्मज्ञान विषयक विचार हैं, जबकि पदों में शास्त्र या सिद्धांत के दायरे को बहुत कुछ दूर रखकर हृदय से निकलने वाले सहज आनंदानुभव के स्वरो को स्थान दिया गया है ।

स्तवन में पक्के ज्ञानी की स्वस्थता है, पदों में मर्मज्ञ संत हृदय की वेदना है, यद्यपि गहन अनुभूति का स्पर्श तो दोनों में है । रसिकता और चोटदार आलेखन की दृष्टि से आनंदघन के पद स्तवनों की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखते हैं । आनंदघन के स्तवन जैन परंपरा में गौरवपूर्ण स्थान पर विराजमान हैं । आनंदघन के पद कबीर, नरसिंह और मीरां के पदों की श्रेणी में अपना स्थान पा सकें ऐसे हैं । आनंदघन के स्तवनों पर गुजराती भाषा का मूलम्मा चढ़ा दिखता है, जबकि पदों का दम-खम और छटा मुख्यतया राजस्थानी भाषा में दिखाई देता है ।

स्तवनों और पदों की वस्तु, भाव, विचार और वर्णन की उस भिन्नता के कारण प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आनंदघनजी ने पहले स्तवनों की रचना की होगी या पदों की ? इस बारे में आचार्य श्री बुद्धिसागरसूरीश्वरजी, मुनि जिनविजयजी और श्री अगरचंदजी नाहटा का मत इस प्रकार है कि आनंदघनजी ने पहले स्तवनों और बाद में पदों की रचना की होगी, जबकि श्री मोतीचंद कापड़िया के मतानुसार पहले पदों और बाद में स्तवनों की रचना हुई होगी ।

आनंदघनजी ने पहले स्तवनों की रचना की — अपने इस मंतव्य के आधार में श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी कहते हैं : “श्रीमद् रचित चौबीसी और पद हैं, उसमें जो आद्य साबित हो उसके अनुमान पर जन्म-देश का निर्णय लिया जा सकता है । श्रीमद् ने पहले चौबीसी की रचना की ऐसी कुछ अनुमानों के आधार पर संभावना की जा सकती है । उस समय में प्रचलित गुजराती भाषा के शब्दों में उन्होंने चौबीसी की रचना की है । उस समय के गुर्जर के साक्षरों ने जिस गुजराती भाषा के शब्दों का उपयोग किया है, वे शब्द श्रीमद् के हृदय की स्फुरण के साथ परिणत हुए हैं अनुमान लगाया जाये तो गुर्जर देश के होने के कारण उन्होंने पहले गुर्जरभाषा में चौबीसी की रचना की और तत्पश्चात् मारवाड़ इत्यादि देश के लोगों के उपयोग हेतु उन्होंने ब्रज भाषा में आत्मा और सुमति आदि पात्रों के उद्गारमय पद बने हों, गुर्जरदेश से मारवाड़ और मेवाड़ की ओर उनका विहार (भ्रमण) होने से उस तरफ के विद्वानों की तरह हिन्दुस्तानी मिश्रित भाषा में पदों को वाणी दी हो, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है ।¹ यद्यपि यह अनुमान आनंदघन गुजरात के निवासी

14 : आनंदघन

थे इस अनुमान पर आधारित होने के कारण कितना विश्वसनीय हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है ।

मुनिश्री जिनविजयजी ने प्रत्यक्ष मुलाकात में इस सन्दर्भ में कहा था कि आनंदघन बावीसी में जैन यति की प्रारंभिक दृष्टि दीखती है । इसमें उनकी धर्मनिष्ठा प्रकट होती है लेकिन बाद में उनकी दृष्टि व्यापक हुई, उसका प्रतिबिम्ब पदों में झलकता है ।² पदों और स्तवनों के वक्तव्य को देखते हुए यह मंतव्य तर्कयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु उसके समर्थन में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है ।

श्री अगरचंदजी नाहटा भी मानते हैं कि स्तवन उनके अध्यात्म-अनुभव की प्राथमिक दशा में रचित और पद परिपक्व अवस्था - उत्तरकाल में रचे गये प्रतीत होते हैं । पदों में वे सांप्रदायिकता से बहुत ऊँचे उठे हुए प्रतीत होते हैं, जो बात स्तवनों में नहीं हैं ।³

आनंदघन सगुण भक्ति से निर्गुण भक्ति की ओर मुड़े ऐसा दिखाने के लिए स्तवनों को पहले रखते हैं और पदों को बाद में । वास्तव में आनंदघनजी के पदों में भी ऋषभ जिनेश्वर अरिहंत और जिनचरणों में मन लगाने की बात आती है । उसमें प्रभुप्रीति की एक प्रकार की तड़पन महसूस होती है, परन्तु ऐसे पद रचने की परंपरा जैन रचनाकारों में देखने को मिलती है । इसलिए सगुण भक्ति से निर्गुण भक्ति का क्रमिक विकास दिखाया जा सके इतना स्पष्ट भेद दोनों के बीच बता पाना मुश्किल है । इसी कारण वह मत स्वीकार्य नहीं है ।

श्री मोतीचंद कापड़िया मानते हैं कि आनंदघनजी ने आरंभ में पदों की रचना की थी और बाद में स्तवनों की रचना की थी । अपने इस अभिप्राय के लिए वे तीन प्रमाणों का समर्थन देते हैं । स्तवनों की भाषा, स्तवनों की विचार-प्रौढ़ता और चौबीस के बदले बाइस स्तवन हैं और दो स्तवन अधूरे हैं यह अवधेय है । उनके मतानुसार आनंदघनजी की मूलभाषा राजस्थानी थी । इसलिए उन पदों की रचना भाषा की दृष्टि अत्यन्त वेधक है जबकि बाद में रचे गए स्तवनों में गुजराती भाषा का अधिक स्पर्श है, परन्तु पदों जैसा भाषा-सामर्थ्य इनमें देखने को नहीं मिलता ।⁴

आनंदघनजी के पदों में कोई अनुक्रम देखने को नहीं मिलता । प्रत्येक प्रति में पदों का क्रम अलग-अलग है । श्री मोतीचंद कापड़िया पदों की क्रमबद्धता के अभाव को भी एक प्रमाण के रूप में रखते हैं, लेकिन यह बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि आनंदघन के हाथों लिखी हुई कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई है । इसलिए बाद में लोगों को जो पद याद थे, उसे लिखा । इतना ही नहीं पद संग्रह की विविध हस्तप्रतियों में अन्य पद रचनाकारों की रचना के साथ साथ आनंदघन की भी कुछ रचनाएँ देखने को मिलती हैं । विशेष प्रचलित या कुछ चुने हुए पद ही दूसरे पदों के साथ सम्मिलित किये गए हों, ऐसा भी हुआ है । प्रत्येक तीर्थंकर के नामोल्लेख के साथ रचित स्तवनों में ऐसी क्रमबद्धता बनी रही यह स्वाभाविक है ।

भाषादृष्टि से सोचें तो आनंदघन का जन्मस्थान राजस्थान है । अपनी मातृभाषा पर व्यक्ति सहज ही प्रभुत्व रखता है । जब दूसरी भाषा में अपनी रचना करने का वह प्रयत्न करता है, तब उसकी मातृभाषा उसमें प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं

रहती । आनंदघन के पद राजस्थानी भाषा में लिखे गये हैं, लेकिन उनके स्तवन गुजराती भाषा के विशिष्ट संस्पर्श से युक्त हैं । इन स्तवनों में नीच की भाषा तो राजस्थानी ही है, यह तो लिंग व्यत्यय 'ण' कार और 'ड' कार का उपयोग तथा 'ओ' कार के प्रयोग से स्पष्ट होता है । आनंदघन ने अपनी मातृभाषा में काव्यरचना प्रारंभ की हो और इस तरह पहले पदों की रचना हुई हो, यह संभव है । उसके बाद उन्होंने गुजरात-सौराष्ट्र में विहार किया उसके परिणाम स्वरूप उनकी भाषा में गुजराती का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है ।

जैनों के चौबीस तीर्थंकर हैं । संसारसागर को स्वयं पार करने और दूसरों को पार कराने के लिए जो धर्म की स्थापना करता है उसे तीर्थंकर कहते हैं । तीर्थं (धर्म) करोति इति तीर्थंकरः । तीर्थंकर लोगों को अपने आचरण और उपदेश के द्वारा कल्याण का मार्ग दिखाते हैं । मनुष्य को स्वयं उस मार्ग पर चलना होता है । तीर्थंकर किसी को आशीर्वाद नहीं देते, क्योंकि सभी को अपने कर्मों का फल भोगना अनिवार्य है उसमें किसी के आशीर्वाद से कोई रियायत नहीं मिल सकती । उन्हीं कर्मों को क्षीण या क्षय करने के लिए तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट कल्याणमार्ग की आवश्यकता पड़ती है । चौबीस तीर्थंकर के नाम इस प्रकार हैं : ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यस्वामी, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान महावीर । चौबीस तीर्थंकर होने के कारण चौबीस स्तवन मिलते हैं । आनंदघन में चौबीस की जगह बाईस स्तवन मिलते हैं, संभवतः इसका कारण उन्होंने उत्तरावस्थामें इनकी रचना की होगी । सामान्यतः कोई भी स्तवनकार चौबीसी पूरी करता है । आनंदघन ने भी चौबीसी पूरी की होती परन्तु उनका देहविलय हो जाने से वह अधूरी रही हो, ऐसी पूरी संभावना है । इस तरह उनके अधिकतर पद जीवन के पूर्वकाल में रचे गये हों और स्तवन उत्तरकाल में रचे गये हों ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती । सभी पदों को पूर्णतः लिख लेने के बाद ही स्तवनों की रचना की होगी ऐसा आत्यंतिक विधान भी नहीं किया जा सकता । कभी कभी स्तवनों की रचना करते समय बीच में किसी अनुभूति का उफान होने पर कोई छोटा सा पद भी रचा गया है । आनंदघन के स्तवनों और पदों में प्रकट होने वाली प्रतिभा को बिल्कुल भिन्न कर पाना संभव नहीं है । उनके पदों में भी जिनभक्ति का प्रवाह बहता है और उनके स्तवनों में भी पदों की उर्मि का अनुभव होता है । प्रणय की परिभाषा तो हम बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ जिनस्तवन में भी देख सकते हैं । इस तरह से हम इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मुख्यतः उनके अधिकांश पद उनके पूर्व जीवन में और स्तवन उत्तरकाल में रचे गये होंगे ।⁵

आनंदघनजी के पद "आनंदघन बहोतरी" के रूप में प्रख्यात हैं । इस नाम से प्रतीत होता है कि आनंदघनजी ने ७२ पद लिखे होंगे । लेकिन जैसे आनंदघनजी ने बाईस स्तवन लिखे हैं फिर भी वे आनंदघन चौबीसी के रूप में पहचाने जाते हैं उसी तरह यह संभव है कि आनंदघन बहोतरी नाम भी बाद में दिया गया हो ।

16 : आनंदघन

पाण्डुलिपियों में मिलने वाले की पदों की संख्या भिन्न-भिन्न है, परन्तु इन पदों में अन्य कवियों के पद और किसी अज्ञात कवि द्वारा आनंदघन के नाम मढ़ दिये गये पद भी बहुत मिलते हैं। जैसे कि आनंदघनजी के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हुए “अब हम अमर भये न मरेंगे” यह पद आगरा निवासी घानतराय का माना जाता है। ‘तुम ज्ञानविभो फूली बसंत’ यह पद भी घानतराय का है, ऐसा माना जाता है।¹⁶ लेकिन घानतराय आनंदघनजी के बाद में हुए हैं इसीलिए पुरानी पाण्डुलिपियों पर जब तक शोध न हो तब तक इसे प्रमाणभूत नहीं मान सकते। दूसरे मध्यकालीन कवियों की तरह आनंदघन के पदों में अन्य कवियों की रचनाओं का मिश्रण हुआ है। वास्तव में, उस जमाने में सभी लोकप्रिय कवियों की रचनाओं के साथ ऐसा हुआ है। आनंदघन रचित स्तवनों में ऐसा नहीं हुआ। उनके स्तवनों की अपेक्षा पदों में कवित्वशक्ति, रसिकता और दृष्टि की व्यापकता अधिक मात्रा में देखने मिलती है।

टिप्पण

1. ‘श्री आनंदघन पदसंग्रह’, रचयिता : आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी, ई. स. 1954, पृ, 122
2. मुनिश्री जिनविजयजी की ता. 15-9-1968 के दिन प्रत्यक्ष मुलाकात के आधार पर
3. ‘महान संत आनंदघनजी और उनकी रचनाओं पर विचार’, लेखक श्री अगरचन्दजी नाहटा, अंक ‘वीरवाणी’, 2/3
4. ‘श्री आनंदघनजीनां पदों’, ले. मोतीचंद कापड़िया, ई. स. 1956, पृ. 60-61
5. ‘श्री महावीर जैन विद्यालय रजत स्मारक ग्रंथ’, लेख : ‘अध्यात्मी श्री आनंदघन अने श्री यशोविजय’, लेखक : मोहनलाल दलीचंद देसाई, पृ. 201
6. ‘आनंदघन ग्रंथावली’, सम्पादक : उमरावचंद जरगड, महताबचंद खारैड, जयपुर, 3, 1975, पद 99

3

आनंदघन का पद-वैभव

मध्यकालीन साहित्य में योगी आनंदघन के पद भावसृष्टि, निरूपणशैली एवं हृदयस्पर्शिता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । इनके पदों में आत्मस्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभवों के अविचल, आनंदमय क्षणों का अनुभव निरूपित हुआ है । इन पदों में लालित्य, विषयप्रभुत्व एवं विशिष्ट शब्द-चयन आदि के कारण भावक को आध्यात्म की सघन अनुभूति प्राप्त होती है ।

आनंदघन के कई पदों में आध्यात्मिकता का गहन अनुभव एक रूपक द्वारा अभिव्यक्त होता है । सुमति अर्थात् शुद्ध चेतना अपने प्रिय आतमराम को, कुमति अर्थात् अशुद्ध चेतना को छोड़कर अपने स्व-घर आने की विनति करती है । इस सुमति की विरहाकुल विप्रलंब श्रृंगार में अभिव्यक्त होने वाली वेदना में कवि आत्मतत्त्व पाने की उत्कट अभीप्सा प्रकट करता है । सुमति अपने प्रियतम को स्व-स्वभाव के साथ जोड़ना चाहती है, तब कुमति अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करके उसके प्रियतम (आत्मा) को क्षुद्र, स्थूल, सांसारिक भावों में निमग्न रखती हैं । सुमति आत्मा को जाग्रत करने का प्रयास करती हैं, किंतु आत्मा का शुद्ध चैतन्य से अनुसंधान केवल शास्त्रज्ञान से ही नहीं सधता । हाँ, शास्त्रज्ञान के दीपक का प्रकाश मार्गदर्शक अवश्य बनता है, परंतु आत्मज्ञान तो शुद्ध आत्मतत्त्व के साक्षात् अनुभव से ही प्राप्त होता है । देह और आत्मा के भिन्नता की अनुभूति होने के पश्चात् आत्मानुभव अत्यधिक सघन बनता है ।

आध्यात्मयोगी आनंदघन अशुद्ध चेतना की मायासृष्टि के समान कामना की चंचलता, देह की क्षणभंगुरता और सांसारिक स्नेह की स्वार्थमयता पर भी प्रकाश डालते हैं । उन्होंने इस मोहमलिनता का नाश करके चैतन्यशक्ति जागने के पुरुषार्थ पर जोर दिया है । सुमति अपने प्रियतम को मिलने के लिये विरह-वेदना का अनुभव करती है । कुमति के माया-जाल में फँसी हुई आत्मा जब उसमें से मुक्त होती है, तो उसे आत्मस्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव की अविचल कला प्राप्त होती है । महायोगी आनंदघन इस आंतरिक आध्यात्मिक प्रक्रिया का वर्णन करते हुए अंततः उससे प्राप्त होनेवाले अनुपम आनंद का गुणगान करते हैं ।

आनंदघन के स्तवनों में जहाँ एक ओर आध्यात्मिक आरोहण का क्रमिक आलेखन मिलता है तो दूसरी ओर उनके पदों में आध्यात्मिक ऊर्ध्वता की भिन्न भिन्न

18 : आनंदघन

भावस्थितियों का आलेखन भी प्राप्त होता है। आनंदघन ने आध्यात्मिक योगलक्ष्मी एवं वैराग्य विषयक पद प्रदान किए हैं, वहीं उनके आलेखन में आलंकारिक रूपक-शैली तथा भिन्न-भिन्न दृष्टांतों द्वारा कथन को सचोट एवं सटीक ढंग से प्रस्तुत करने की कला भी अनुपम है। इनके पदों में इस बात का भी सुंदर आलेखन हुआ है कि कुमति की संगति में बेहोश, आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति (आत्मा) किस प्रकार धीरे-धीरे ऊर्ध्वारोहण कर सकता है। विषय में आसक्त जीव को विषय त्यागकर जगाने हेतु उद्बोधन करते हुए वे कहते हैं -

“क्या सोवे उठ जाग घाउ रे

अंजलि जल ज्युं आयु घटत है, पहोरियां धरिय घाउ रे。”¹

पद के आरंभ में ऐसा भाव प्रकट होता है, कि विषय-कषाय की गाढ़ निद्रा में लीन व्यक्ति को ‘क्या सोवे उठ जाग बाउरे’ कहकर मानो जगाना चाहते हैं। यहाँ कवि नरसिंह महेता की ‘जागने जादवा’ पंक्तियाँ अनायास ही याद आ जाती हैं। निरंतर क्षीण होते आयुष्य के संदर्भ में कवि कहता है कि जिस प्रकार अंजलि में रखा हुआ जल अंगुलियों के बीच के छिद्रों में से रिसकर बह जाता है उसी प्रकार प्रतिक्षण तेरा आयुष्य घटता जाता है। इसलिए आयुष्य का प्रत्येक क्षण तेरे लिए अमूल्य है। पलभर का भी प्रमाद अनुचित है।

कवि एक सुंदर कल्पना करते हुए कहता है, कि कालरूपी दरबान निरंतर घड़ी में डंका बजाकर सूचित करता है कि तेरा आयुष्य प्रतिक्षण घट रहा है। इन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्र जैसे बड़े-बड़े मुनिगण चले गए तो फिर चक्रवर्ती राजा तो क्या है ? ऐसे समर्थजनों को भी काल-वश होना पड़ा तो तू किस गिनती में है ? अतः तत्काल जाग्रत हो जा।

यह जागृति कोई बाह्य जागरण नहीं है, परंतु आत्म जागृति है। यह जागृति अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति, अनित्य से नित्य की ओर प्रयाण, भंगुर में से शाश्वत की ओर की यात्रा। इसके लिए तुझे विषय-कषाय की विभावदशा की निद्रा से जगना होगा और प्रभु-भक्तिरूपी नौका द्वारा प्रतिक्षण जीवन-साफल्य के लिए जूझना होगा। जीवन कोई प्रसंग या घटना नहीं है और न तो जन्म-मरण के बीच का कालखण्ड। जीवन तो आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने का महापर्व है, महोत्सव है। इस उत्सव को प्रदीप्त करने के लिए कवि आशावरी राग में आलेखित निम्न पद में कहता है -

‘बेहेर बेहेर नहीं आवे, अवसर बेहेर बेहेर नहीं आवे,

ज्युं जाणे त्युं कर ले भलाई, जनम जनम सुख पावे. १

तन धन जोबन सब ही जूठो, प्राण पलक में जावे. २

तन छूटे धन कौन कामको ? कायकुं कृपण कहावे ? ३

जाके दिल में साच बसत है, ताकुं जूठ न भावे. ४

‘आनंदघन’ प्रभु चलत पंथ में, समरी समरी गुण गावे. ५”²

मनुष्य-योनि अत्यंत दुर्लभ है, अतः भलाई करते हुए जन्म-जन्मान्तर सुख पाने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर, धन और जवानी क्षणिक हैं और प्राण तो पलभर

में उड़ जाता है। तन छूटे जाने पर धन निरर्थक है। अतः सद्चारित्र्ययुक्त जीवन ही सत्यमार्ग है। आत्मानंद पाने का ऐसा अवसर तूझे कहाँ मिलेगा ? आनंदघन कहते हैं कि इस अवसर को अच्छी तरह से पहचानकर आनंदपुंजरूप प्रभु का स्मरण करके तेरा आंतरविकास करता जा।

आत्मानन्द की अनुभूति के अवसररूप जीवन को पाने कतिपय अवरोधों को दूर करने के लिए अध्यात्म-पुरुषार्थ आवश्यक है। आनंदघन ने अपने पदों में कुमति की कपटलीला का वर्णन करके इन अवरोधों का सूचन किया है। कुमति के कारण अनादिकाल से अज्ञान रूपी निद्रा में व्यस्त मानव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए आनंदघन कहते हैं —

‘सुपन को राज साच की माचत, राहत छांह गगन बदरीरी,
आई अचानक काल तोपची, गहेगो ज्युं नाहर बकरीरी. जीय. २’³

“स्वप्न में राज्य को सच मानता है और आकाश के बादलों की छाया में आनन्द से बैठा है। (परंतु) अचानक काल-तोपची आकर जिस प्रकार नाहर बकरी को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार तूझे पकड़ लेगा।”

कवि ने मोहग्रस्त मनुष्य जीवन में सहसा मृत्यु से उत्पन्न होने वाली दशा का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। स्वप्न में राजवैभव भोगने वाले की स्वप्न टूटने पर कैसी दशा होती है ? आकाश में एकाध बदली के आने पर क्षणभर के लिए छाया का सुख मिलता है, परंतु उस बदली के चले जाने पर कड़ी धूप सहनी पड़ती है। बकरी का पेट फाड़कर उसका शिकार करनेवाले नाहर की भ्रांति काल क्षणभर में तूझे ग्रास बना लेगा। पुद्गल-भाव में डूबे हुए मनुष्य को आनंदघन बार-बार जाग्रत करते हुए कहते हैं कि ‘पुद्गल का क्या विसवासा’⁴ मानव जीवन तो पानी के बुल-बुले की भ्रांति क्षण-भर में फूट जाने वाला है। ऐसा मनुष्य हीरा को छोड़कर मायारूप कंकड़ पर मोहित होता है। वह हारिल पक्षी की भ्रांति है। यह हारिल पक्षी जब पिंजरे में होता है तब नीमनी नामक लकड़ी को पकड़कर रखता है, फिर उसके पंजों के हिलने-डुलने से लकड़ी इधर-उधर सरक जाती है और पक्षी आँधे मुँह लटककर चीं चीं करने लगता है, परंतु लकड़ी नहीं छोड़ता।

पुद्गलभाव से अपार हानि होने के बावजूद जो व्यक्ति उसे नहीं छोड़ता उसकी स्थिति हारिल पक्षी जैसी है। आत्मा या चैतन्य को मिलने के लिए अति आतुर सुमति (शुद्ध चेतना) की विरह-वेदना द्वारा कवि विषय-कषाययुक्त पुद्गलभाव में डूबे व्यक्ति का चित्रण करते हुए कहता है कि अपना प्रियतम-आतमराम अशुद्ध चेतना (कुमति) में ऐसा डूब गया है, कि वह चेतन को भूलकर जड़ बन गया है। स्वभाव को भूलकर विभाव में डूब गया है। आत्मसुख को छोड़कर देहसुख में डूब गया है। कवि आनंदघन सुमति की इस विरह दशा का आलेखन कभी संवाद शैली में तो कभी उपालंभरूप में करते हैं। सुमति के विरह को भिन्न भिन्न भाव-भंगिमाओं को निरूपित करके कविने अपनी अभिव्यक्ति-कौशल की विविधता का परिचय कराया है।

गौड़ी राग में लिखित एक पद में कवि कहता है कि यह विरहिणी पति वियोग

20 : आनंदघन

को सहन नहीं कर सकती । विरह के कारण सारी रात निंदियां बैरन बन जाती है । उसे अपने पति के प्रति शुद्ध प्रेम हैं । उसने अपना सर्वस्व समर्पित किया है, फिर भी दीर्घ वियोग से वह अत्यंत पीड़ित और दुःखी हैं । सारी सुध-बुध खोकर जी रही हैं । उसे ऐसा प्रतीत होता है कि आकाश के तारे मानो अंधेरी घनघोर रात में दौंठ दिखकर उसके विरह की हँसी उड़ा रहे हैं । अश्रुधारा के कारण 'भादु-कादु'⁵(भादो-कीचडयुक्त) बन गया है । अबला स्त्री पर इतना अत्याचार उचित नहीं है । पति से इतर अन्य सर्व संबंध उसे रण में रोने जैसे व्यर्थ लगते हैं । आशावरी राग में विरहिणी कहती है —

‘मीठो लागे कंतडो ने, खाटो लागे लोक,
कंत विहुणी गोठडी ते, ते रणमांहि पोक ।’⁶

अपने को निराधार छोड़कर चले गये पति की सुमति निश-दिन राह ताकती है —

‘निश-दिन जोउं (तारी) वाटडी, घरे आवो ने ढोला,
मुज सरिखी तुज लाख हैं, मैरे तूहीं ममोला ।’⁷

रात-दिन अपने नाथ की राह देखती-सुमति उसे पर-भाव त्यजकर स्व-भाव (स्व-घर) में आने की विनति करती हैं । विभाव दशा में निरत रहने पर माया, ममता, कुबुद्धि जैसी अनेक स्त्रियाँ उसे घेर लेती हैं, परंतु आप तो मेरे लिए अमूल्य हो, क्योंकि आपको निवृत्ति नगर में ले जा सके, वह मैं ही हूँ, अतः आप निज-गृह में पधारो ।’

आनंदघन के पदों की यह विशेषता है कि उनके बाह्य सतही भाव को भेदकर उनके भीतर जाने पर कई आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होते हैं । पदों में दर्शन ताने-बाने की भाँति गुंथा हुआ है । विरहिणी सुमति कहती है कि वह प्रियतम की राह में पतिविरह के दुःखरूपी मंदिर के झरोखे से झुक-झुककर एकटक देख रही है । सामान्य स्त्रियाँ उसके विरह को देखकर उपहास करती हैं, परंतु उसका तन-मन सब कुछ विरहाभिभूत हैं, वह क्या करे ? अपने जीवनाधार के बिना वह अपने प्राणों को कैसे बचा सकती हैं ? सुमति (शुद्ध चेतना) कहती हैं —

‘फागुण चाचर एवं निसा, होरी सीरगानी हो’
मेरे मन सब दिन जैरे, तनखाख उडानी हों।’⁸

फागुन मास में सिर्फ एक दिन होली जलती है, परंतु मेरे मन में तो प्रतिदिन होली जला करती है और वह शरीर को राख बनाकर उडाती है ।

सुमति के मन में सवाल उठता है कि मुझे मेरा मन-भावन कब मिलेगा ? अपने मनभावन के बिना का खेल तो किसी मूर्ख के द्वारा रेती को ग्रास (कौर) बनाने जैसा निरर्थक है । कुछ ऐसे ही भाव को लेकर कवि लिखता है —

‘मुने मारो कब मिलशे मनमेलु.

मनमेलु विण केलि न कलीए, वाले कवल कोई वेलु।’⁹

कुछेक पदों में सुमति कुमति की बुरी सोबत का वर्णन करती हैं, तो कुछेक पदों में सुमति अपने और कुमति के बीच का अंतर प्रकट करती हैं । कुमति लंपट

(लुच्ची) अभिमानी और मायारूप है। कुमति में आशा, तृष्णा लज्जा और क्रोध हैं, जब कि सुमति शांति, दम और संतोष से शोभायमान है। इस कुमति में आत्मा की मूल कला के लिए कलंकरूप पाप है, जबकि अपने मंदिर में आनंदघन सुमति की नित्य राह देख रहे हैं¹⁰ अतः ऐसी कुमति को छोड़कर मेरे पास आ जाओ।

चेतन को जाग्रत् करने के लिए सुमति उसे अपने सच्चे घर का ज्ञान कराती हुई कहती है —

‘चेतन, शुद्धात्मकुं ध्यावो,
पर परचे धामधूम सदाई, निज परचे सुख पावो,
चेतन । शुद्धात्मकुं ध्यावो. ?’¹¹

यह चेतन अर्थात् आत्मा कैसी है ? जिस प्रकार अभिनेता अभिनय करते समय अपने पात्र से उसका इतना तादात्म्य हो जाता है कि वह अपने ‘स्व’ को भूल जाता है और अभिनय के पश्चात् वह अपने मूल (स्व) को समझ पाता है। इसी प्रकार कुमति के कारण चेतन को मानसिक भ्रमणा होती है। बाजी भी वह लगाती है और बाजीगर भी वही है। आसक्ति और अनासक्ति करने वाली वही हैं। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही हमारी मित्र है और आत्मा ही हमारी शत्रु हैं। दुनिया के मायाजाल में फँसी हुई आत्मा कुमति के संग रहती हैं, परंतु निज स्वरूप का ज्ञान होने पर उसे आनंदस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। आनंदघन कहते हैं कि —

‘देखो एक अपूरव खेला,

आप ही बाजी, आप ही बाजीगर, आप गुरु आप चेला.’¹²

शुद्ध चेतन की जागृति के समय कैसा भावानुभव होता है। ऐसे अनुभवों का आलेखन जिन पदों में हुआ है उन पदों में कवि आनंदघन के भावउच्छलन की प्रतीति होती हैं। चौतरफा व्याप्त भ्रमरूपी अंधकार का साम्राज्य मिट जाता है। आलोक फैल जाता है। निर्मल हृदयकमल खिलता है और आत्मभूमि पर विषयरूपी चंद्र की कांति निस्तेज हो जाती हैं। उसे मात्र आनंदघन ही अपना वल्लभ लगता है। इस ज्ञानभानु के उदय होने पर अत्यंत मोहक और आकर्षक लगने वाले जगत के राग रसहीन प्रतीत होते हैं। शुद्ध चेतना का विरहकाल पूर्ण होने पर उत्पन्न होने वाली आत्मविभूति के प्रागट्य की दुहाई देते हुए कवि कहता है —

‘मेरे घट ग्यान भानु भयो भोर.

चेतन चकवा चेतना चकवी, भागो विरहको सोर.’¹³

अनादिकाल से छाई हुई अज्ञानरूपी निद्रा स्वतः दूर हो गई और हृदयमंदिर में अनुभवज्ञान का प्रकाश होने से ‘सहज सुज्योति स्वरूप’ अनुभवज्ञान प्रकट हुआ है।

कवि अपने हृदय में जगी हुई अनुभवजन्य प्रीति की बात सुहागन से करता है। इस अकथ कहानी का वर्णन करते हुए आनंदघन कहते हैं —

‘सुहागण जागी अनुभव प्रीत.

निन्द अनादि अग्यान की, मिट गई निज रीत. ६ १ ८

मंदिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरूप, आ १ ८ १

पराई आप ही, ठानत वस्तु अनूप.

22 : आनंदघन

कहाँ दिखावुं औरकुं, कहां समजाउं भोर,
तीर अचूक है प्रेमका, लागे सो रहे ठोर.
नादविलुद्धो प्राणकुं, गिने न तृण मृग लोय,
आनंदघन प्रभु प्रेमकी, अकथ कहानी कोय।¹⁴

एक अन्य स्थल पर आनंदघन कहते हैं कि —

‘तुम ज्ञान विभो फूली वसंत, मनमधुकर ही सुखसों वसंत।’¹⁵

हे प्रभु ! तुम्हारी ज्ञानरूपी वसंत ऋतु पूर्ण वैभव से खिली हैं, जिससे उसमें मनरूपी भ्रमर सुख से निवास करता है। वैराग्य रूपी दिन बड़ा होता जाता है और दुर्गति रूपी रात्रि धीरे-धीरे छोटी होती जाती हैं। सुरुचि की लता विकसित होकर फलवती बनती हैं। वसंतऋतु में कोयल का सुर अतिमधुर होता है, उसी प्रकार भाषा मनमधुर रूप धारण करती हैं और समग्र सृष्टि आनंदस्वरूप हो गई हैं।

आनंदघन के पदों में आध्यात्मिक यात्रा का आलेखन विरह-मिलन के सुंदर भावों में व्यक्त हुआ है। अध्यात्म के शिखर पर पद्मासन लगाकर बैठे हुए आनंदघन ने अपने पदों में योग की परिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है। उन्होंने योगसाधना से देह को देवल बनाने की बात की हैं। योग विषयक पदों में उन्होंने योग द्वारा आत्मभाव और समाधि प्राप्ति का मार्ग बताया है। जैन दृष्टि के अनुसार योग की व्याख्या है - ‘युज्यते इति योगः’ साध्य के साथ चेतन को जोड़ दे वह योग। योगमार्ग के आराधक के राग-द्वेष मंद होते जाते हैं और स्वदेह के प्रति राग और अन्य आत्मा के प्रति द्वेष कम करना है तथा आत्मा में स्थिर करना है। उसका लक्ष्य तो आत्मा को देह से अलग करके आत्मभावना में स्थिर करना है। रेचक, पूरक, कुंभक आदि क्रियाओं द्वारा मनइन्द्रिय की जय कर के आत्मतत्त्व का प्राथमिक अनुभव पाना है और फिर उसमें स्थिरता लानी है। आनंदघन के पदों में तन रूपी मठ में सोये हुई आत्मा को जाग्रत् करने की बात है। उन्होंने छठे पद में तो समग्र योगप्रक्रिया का निरूपण किया है। जबकि अन्यत्र वे कहते हैं —

‘अवधू क्या सोवे तन मठ में, जाग विलोकन घट में।

तन मठ की परतीत न कीजें, ढहि परे एक पल में,
हलचल मेटि खबर ले घट की, चिट्ने रमतां जल में।’¹⁶

आनंदघनजी की कुछ ऐसी ही योग-मस्त दशा का वर्णन उनके ‘अवधू सो जागी गुरु मेरा’¹⁷ पद में दृष्टिगत होता है। यहाँ वे एक वृक्ष के द्वारा अपनी बात को समझाते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसा वृक्ष है कि जिसकी न जड़ें हैं न छाया, न डालियाँ हैं न पत्ते, बिना फूल के ही उस पर फूल लगे हैं और उसका अमरफल आकाश से लगा हुआ है। यह वृक्ष अर्थात् चेतन। जो अनादि है। वह जड़ बिना ही ऊगा हुआ वृक्ष है। वह स्वतः खिला हुआ है। कवि कहता है कि इस वृक्ष पर दो पंखी बैठे हुए हैं। एक है गुरु और दूसरा है चेला। चेला समग्र दुनिया को चुन-चुनकर खाता है और गुरु निरंतर खेल खेलता है। आत्मराज नामक तरुवर पर सुमति और कुमति दो पंखी बैठे हैं। सुमति ऐसी प्रवृत्तियाँ करती हैं, कि जिस से आत्महित हो और गुरु-स्थान पर रहकर अंतर के खेल खेला करता है, जबकि शिष्य कुमति संसार

रसिक हैं और वह जगत के भावों को चुन चुनकर खाता है। कल्पना वैभव की पराकाष्ठा तो कवि की इस विरह कल्पना में देखिए :

‘गगन मंडल में गउआ विहानी, धरती दूध जमाया,
माखन था सो विरला पाया, छो जग भरमाया।’¹⁸

आकाशमंडल में गाय ब्याई है, उसका दूध पृथ्वी पर जमाया गया है। उस दूध का मक्खन कुछ लोगों को प्राप्त हुआ, शेष जगत तो छाछ से तगा गया और उसीसे आनंदित हो गया। जगत के अधिकांश लोग तो विषय-कषाय के भोग में ही आनंद मान लेते हैं।

योगी आनंदघन ने जैन साहित्य में प्रयुक्त होने वाले हरियाली-स्वरूप का अपने पदों में प्रयोग किया है। इस हरियाली में स्थूल दृष्टि से विरुद्ध भासित होने वाली बात को समझाया जाता है। यह हरियाली अन्योक्ति या व्याजस्तुति से भिन्न है। अन्योक्ति में संबोधित किसी ओर को किया जाता है और सुनाया किसी ओर को जाता है। व्याजस्तुति में इस प्रकार प्रशंसा की जाती है कि जिसमें टीका या निंदा हो। हरियाली इन दोनों से भिन्न है इस प्रकार के दो पद¹⁹ आनंदघन ने भी लिखे हैं।

कुछेक पदों का आरंभ ‘अवधू’, ‘साधो भाई’, ‘सुहागन’, ‘चेतन’, ‘प्यारे प्राणजीवन’ जैसी संबोधन शैली से होता है। आशावरी राग में अवधू को संबोधित करके लिखे गए सात पद प्राप्त होते हैं। इन पदों में कवि आनंदघन की आनंदमस्ती के भिन्न-भिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कभी ‘अवधू’ को संबोधित कर के स्याद्वाद की बात करते हैं, तो कभी सच्चिदानंद स्वरूप की पहचान करवाते हैं और कहते हैं कि ‘हमारा कोई वर्ण नहीं है, घाट नहीं है, जाति नहीं है, पांति नहीं है। हम न हलके हैं न भारी, न गरम हैं न ठंडे, न किसी के पिता हैं न पुत्र, हम न मन हैं, न शब्द। हम क्रियाकर्ता भी नहीं हैं और क्रियारूप भी नहीं हैं। हम तो आनंद के समूहरूपी चैतन्यमय मूर्ति हैं। सत्-चित्-आनंदयुक्त हमारा त्रिकाल ऐसा अबाधित स्वरूप हैं जो हमें इस प्रकार स्थापित करता है कि हम परम महारस में डूब जाते हैं।’²⁰

कहीं कहीं अवधू को संबोधित करके कवि आनंदघन व्यापक धर्म की बात करते हैं। वे कहते हैं कि जगत के लोग मुख में राम-नाम का जाप किया करते हैं, किंतु उसके अलक्ष स्वरूप का मर्मज्ञ तो कोई भाग्यशाली ही होता है। जगत में भिन्न-भिन्न विचारों वाले लोग अपने-अपने मत में मस्त हैं। मठाधीश मठ में तो पाटधारी पाट में आसक्त हैं। जटाधारी जटा में और छत्रधारी छत्र में पड़े हैं। चौतरफा बहिरात्मभाव की बोलबाला है और परमात्मभाव का ध्यान धरने वाले तो बिरले ही हैं। परमात्मभाव की सच्ची खोज आकाश या समुद्र में नहीं, वरन् हृदयकमल में करनी चाहिए। ऐसा करने वाला आनंदरस प्राप्त करता है।

‘अवधू’ की स्थिति का वर्णन करते हुए आनंदघन कहते हैं कि जो आनंदराशि में अपनी ज्योति को समा दे वह अलख कहलाता है। अवधू को संबोधित करके कवि आनंदघन ने ऐसा पद लिखा है जिसे पढ़कर सूरदास की भक्तिपरक लघुता और दैन्यता का अनायास ही स्मरण हो जाता है। कवि अपनी अज्ञता प्रदर्शित करता

24 : आनंदघन

है और वह क्या मांगे ? ऐसा प्रश्न स्वयं से पूछता है, परंतु उसके लक्ष्यार्थ में परमात्मपद की प्राप्ति की उत्कटता है । आरंभ में कवि कहता है —

‘अवधू क्या मागुं गुनहीना, वे गुनगनन प्रवीना.’

गाय न जानुं बजाय न जानुं, न जानुं सुरभेवा,

रीझ न जानुं रीझाय न जानुं, न जानुं पदसेवा. १

वेद न जानुं किताब न जानुं, जाणू न लक्षण छंदा,

तरक वाद विवाद न जानुं, न जानुं कविफंदा. २²¹

आनंदघन के कुछ पदों का तारतम्य उनके जीवन की घटनाओं से जोड़ा गया है । यद्यपि इसका कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता । आनंदघन का एक ऐसा पद है - ‘आशा ओरन की क्या कीजे ।’ इस संदर्भ में एक ऐसी किंवदंती प्रवर्तित है, कि लाभानंद (आनंदघन का मूल नाम) महाराज, एक शहर में चातुर्मास के लिए रुके थे । उपाश्रय के सेठ उनकी बहुत सेवा करते थे । आग्रहपूर्वक आहार करवाते थे, आवश्यक कपड़े भी देते थे और दिन में अधिकांश समय उनकी सेवा में व्यतीत करते थे ।

एक बार उपाश्रय के सेठ पर्युषण पर्व के दौरान पूजा में अधिक समय लग जाने के कारण व्याख्यान में विलंब से पहुँचे । उस समय आनंदघनजी को किसी ने कहा कि सेठ पूजा में व्यस्त है, उन्हें यहाँ पहुँचने में थोड़ी देर लगेगी, अतः व्याख्यान कुछ देर बाद आरंभ कीजिए । परंतु आनंदघनजी ने निश्चित समय से ही व्याख्यान आरंभ कर दिया । थोड़ी देर बाद सेठ पहुँचे । पर्युषण पर्व के व्याख्यान अखण्ड रूप से सुनने की उनकी हार्दिक इच्छा थी, अतः उनके मनमें ग्लानि होना स्वाभाविक था ।

व्याख्यान पूर्ण होने के बाद आनंदघन को सेठ ने कहा - ‘सेवक पर जरा दया करके कुछ देर के लिए व्याख्यान रोकना था न ।’ आनंदघनजी ने कुछ उत्तर नहीं दिया । सेठ ने वही बात पुनः दोहराते हुए कहा कि ‘साहब, मैं आपके लिए आहार और कपड़ों की व्यवस्था करता हूँ, इतनी सेवा चाकरी करता हूँ उसका तो लिहाज रखना था ? व्याख्यान कुछ देर बाद आरंभ करते तो क्या हो जाता ?’

मस्तयोगी आनंदघनजीने कहा, “भाई, आहार तो खा गये और ले ये तेरे कपड़े ।” कपड़े उतारकर दे दिये और जंगल में चले गये, उस सेठ का उपाश्रय छोड़ दिया और वहाँ इस पद की रचना की । इस पद में कवि ने यह कहा है, कि पराई आशा महानिराशा है और निस्पृहता में महासुख है ।

‘आशा ओरन की क्या कीजे ? ग्यान सुधारस पीजे.

भटके द्वार द्वार लोकन के, कूकर आशाधारी,

आतम अनुभव रसके रसिया, उतरे न कबहू खुमारी. १²²

दूसरों की आशा रखने के बजाय ज्ञानामृत रस का पान करना चाहिए । आशावश, श्वान लोगों के द्वार द्वार भटकता है, जबकि आत्मानुभव-रस में लीन जीव खुमारी से जीता है । वस्तुतः प्रचलित किंवदंती से यह पद मेल नहीं खाता ।

यहाँ भौतिक सुख से ब्रह्मानंद के अक्षयरस को श्रेष्ठ कहा गया है। आनंदघन की आत्म-मस्ती तो देखिए।

‘मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली,
तन भाठी अक्टाई पीए कस, जागे अनुभव लाली. ३²³

शरीररूपी भट्टी में शुद्ध स्वरूप अग्नि प्रज्वलित करके अनुभवरस में प्रेमरूपी मसाला डालकर उसे मनरूपी प्याले में उबालकर उसका सत्व पीने पर अनुभव की लाली प्रकट होती है।

इस अनुभवलाली के प्रकट होने पर आत्मरमण की पराकाष्ठा पर पहुँचकर आनंदघन छलक उठता है। चोतरफ आनंद ही आनंद छा जाता है। कर्ममल से रहित सिद्ध आत्मदशा ही इस आनंद की पराकाष्ठा है। उनका उपनाम ‘आनंदघन’ ही उनके जीवन के साध्य का द्योतक है। ऐसे साध्य की प्राप्ति कर कैसा विरल अनुभव होता है? देखिए कवि के शब्दों में —

‘मेरे प्रान आनंदघन, तान आनंदघन,
मात आनंदघन, तात आनंदघन,
गात आनंदघन, जात आनंदघन. १
राज आनंदघन, काज आनंदघन
साज आनंदघन, लाज आनंदघन. २
आभ आनंदघन, गाभ आनंदघन,
नाम आनंदघन, लाभ आनंदघन. ३²⁴

आनंदघन स्तवनों में आरंभ में जैन तीर्थंकरों का नामोल्लेख करते हैं, परंतु बादमें उनका निरूपण अध्यात्म-अनुभव की प्रक्रिया का आलेख बन जाता है। संप्रदाय की सीमाओं से परे हटकर आनंदघन ने जैन परंपरा में एक अलग पहचान बनाई है। यही कारण है कि उनके जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ या उनके परवर्ती जैन तीर्थंकर विषयक पदों में भी उनकी यही व्यापक दृष्टि रही है। पार्श्वनाथ की महत्ता प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं कि उन्होंने कामदेव को क्षणभर में जीत लिया था तथा दुनिया और देवों को विचलित कर देने वाले कामदेव पर विजय प्राप्त करना अपने आप में एक अपूर्व और अलौकिक कार्य है।²⁵

आनंदघन की व्यापक उदात्तता का मार्मिक अनुभव तो उनके अत्यंत प्रसिद्ध पद - ‘राम कहो, रहमान कहो’ में प्रतीत होता है। इस पद में कवि की एक विशिष्ट दृष्टि का परिचय होता है। ईश्वर के नाम के स्थान पर उनकी नजर सर्व में स्थित, सर्वव्यापक तत्त्व पर है। बर्तन भिन्न-भिन्न हैं, किंतु माटी तो एक ही होती है। कवि कहता है —

‘राम कहो रहेमान कहो कोउ कहान कहो महादेव री,
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सफल ब्रह्म स्वयमेव री.²⁶

अर्थात् हम परमात्म स्वरूप हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं और अनंतगुण शक्ति युक्त हैं। इस सत्य का ज्ञान यदि हमें हो जाय तो फिर ईश्वर के नाम की तकरार ही व्यर्थ है। जो निज स्वरूप में रमण करे वह राम, दूसरों पर रहम करे वह रहेमान, कर्मों को खेंच

26 : आनंदघन

दे वह कहान (श्रीकृष्ण) और महादेव अर्थात् साक्षात् निर्वाण । निर्वाण अर्थात् शुद्ध दशा का साक्षात्कार, परभाव रमणता का सर्वथा त्याग और अनंत आनंद में लीनता । इसी प्रकार जो अपने शरीर का स्पर्श करे अर्थात् देखे वह पारसनाथ (पार्श्वनाथ) और निज शुद्ध स्वरूप को देखे वह ब्रह्मा है । यदि अध्यात्मरूपी पुरुषार्थ करके स्वभाव को शुद्ध करें तो आत्मा स्वयं ही आनंदघन है । वही चैतन्यस्वरूप है और वही कर्म की मलीनता से रहित है ।

इस प्रसंग में सोमनाथ पाटण के मंदिर प्रवेश के समय कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य द्वारा की गई सोमेश्वर की स्तुति भी अनायास ही याद आ जाती है । उन्होंने नें कहा था कि -

भवबीजांकुरजनना, रागाद्यां क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै । ।

जिसमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर न रहे हों, वे चाहें फिर ब्रह्मा हों, विष्णु हों शिव हो या जिन (तीर्थकर) हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ ।

इसमें सत्यसंशोधन का शुभ आशय निहित है । सत्य और समता से व्यापकता और शांति का सर्जन होता है । और उसमें उद्भवित होता है - आनंद । आत्मा जब अपने चैतन्यस्वरूप को जाग्रत करती है तब निरंजन निराकार स्वरूप में उसे प्राप्त करने की शुद्ध इच्छा वाला व्यक्ति अंतः आत्मस्वरूप की खोज करता है और यह खोज ही उसे सत्-चित्-आनंद की प्राप्ति कराती है ।

आनंदघन की पांडुलिपियों का संशोधन करते समय उनकी कतिपय अप्रकाशित रचनाएँ मिली थी । उनमें से एक अप्रकाशित रचना श्री लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर के संग्रह (क्रमांक 13482) में उपलब्ध है । राग मल्हार में लिखा गया एक पद इस प्रकार है -

‘तुं लग जा रे मनवा मेरा,

प्रभु चरणका में चोरी ।

विषया की संगत होय मत डोलो,

इणसुं होय भट भेला । ।

भव भवमें कछु चेन न पायो,

भव जल हैं ठठनेरा....

2

आनंदघन कहे पास जिनेसर,

तम हो सायब मेरा । । 3

इति पदम् 27,

आनंदघनजी की अनुभवलाली की मस्ती से छलकता ‘आतम पियाला’ उनके एक अनुपम पद में लाक्षणिक शैली में अभिव्यक्त हुआ है । जिसमें आत्मानंद की भावावस्था प्रकट होती है । वह मस्ती ही कैसी होगी? कवि कहता है - ‘हम अमर हो गये । इस अमरत्व का कारण यह है, कि जीवन में से राग-द्वेष विनष्ट हो गये है । मिथ्यात्व त्याग दिया है और स्थूल रूप के स्थान पर सूक्ष्म स्वरूप का निवास बना हूँ तथा आत्मा और मोक्ष, इन दोनों अक्षरों का हम निरंतर स्मरण कर रहे हैं ।

आनंदघन तो यहाँ तक कहता है कि कोई व्यक्ति यदि इस भाँति जीने का निश्चय करे तो वह अमर हो जाता है। महात्मा गाँधीजी को भी प्रिय इस प्रार्थना को 'आश्रम भजनावलि' में स्थान मिला था।

इस पद का भावलालित्य और उसकी मर्मस्पर्शिता कुछ और ही हैं। साधक की मस्तीभरी खुमारी तो देखिए।

‘अब हम अमर भये न मरेंगे,

या कारण मिथ्यात दीयो तज, क्युं कर देह धरेंगे ? १

राग दोस जग बंध करत है, इनको नास करेंगे,

मर्यों अनंत कालतें प्राणी, सो हम काल हरेंगे. २

देह विनाशी हुं अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे,

नासी जासी हम थिरवासी, चोखें दें निखरेंगे. ३

मर्यों अनंत बार बिन समज्यो, अब सुख दुःख विसरेंगे

आनंदघन निपट निकट अक्षर दो, नहि समरे सो मरेंगे.४²⁸

अब हम मध्यकालीन साहित्य में आनंदघनजी के पदों के वैशिष्ट्य की चर्चा करेंगे। वे विषय-वस्तु का आरंभ बड़े अनूठे ढंग से करते हैं। प्रथम पंक्ति के आरंभिक शब्द ही भावक के चित्त पर आत्मानंद की अनुभवलाली बिखेर देते हैं। परंतु पद का प्रवाह जैसे-जैसे आगे की ओर बहता है, वैसे-वैसे पद में सुगंधित रहस्य प्रकट होता जाता है। कई बार पद की अंतिम पंक्तियाँ ऐसा रहस्य खोल देती हैं, कि पद कुछ अलग ही अनुभव-आलोक से आलोकित हो जाता है। यही कारण है, कि आनंदघनजी के पद अपनी मधुरता के कारण मस्तजनों के कण्ठहार बन गये हैं। तो दूसरी ओर पद की अंतिम पंक्तियों की चमत्कृति के कारण भावक या साधक उसका आस्वादन करने के लिए पुनः पुनः प्रेरित होते हैं। इनके पदों में गजब की संगीतात्मकता है, जिन्हें अत्यंत सरलता से गाया जा सकता है। मनोहर राग-रागिनियों में बद्ध इन पदों में ताल, लय और छन्द का अद्भुत सामंजस्य है।

कवि अपने पदों में कहीं आलंकारिक रूपक शैली का प्रयोग किया है, तो कभी चातक, मृग, साँपिन (नागिन), हारिल पक्षी, खँजन, गजराज, गर्दभ जैसे पशु-पंखियों के विशिष्ट लक्षणों के जीवंत दृष्टांतों द्वारा या फिर सूर्य, वसंत जैसे प्राकृतिक तत्वों की बात द्वारा या फिर शतरंज अथवा गंजीफा (तास) जैसे खेलों के उदाहरणों द्वारा अपनी बात को सहज स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त करता है। इनकी साखियाँ भी उतनी ही मार्मिक हैं। साधक के लिए तो आत्मसाक्षात्कार की महिमा ही सर्वस्व है। जैसे कि 70 वें पद की साखी में धर्म औदार्य और विशाल दृष्टि दोनों दृष्टिगत होती हैं। कवि कहता है —

‘आतमअनुभन्न रसकथा, प्याला पिया न जाय,

मतवाला तो ढहि परे, निमता परे पचाय.²⁹

आत्मानुभव की कथा का प्याला पीते पीते मताग्रही लोग तो गिर पड़ते हैं। मताग्रहविहीन निर्ममत्वी ही उसे पचा सकते हैं।

ये साखियाँ आनंदघन के पदों की विशिष्ट पहचान हैं। आनंदघन की इस

28 : आनंदघन

पदसृष्टि में मानस-विहार करने पर एक विशिष्ट प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति होती है। अध्यात्मवाणी का गांभीर्य, गहराई, वाणी-वैचित्र्य और उसमें तत्त्व-निरूपण तथा हृदय-स्पर्शिता आदि उनके पदों में हैं। सच्चे आस्वादन के लिए जैन परिभाषा का उचित ज्ञान, आत्मसाधना का अनुभव, योगाभ्यास और जीवन की समभावशीलता महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अनिवार्य हैं। जिस प्रकार किसी आत्मसाधक योगी को अपनी साधना के बल पर अमृतत्व प्राप्ति की प्रतीति हुई हो उसी भाँति उनके शब्दों में आत्मविश्वास, स्वाभिमान, पुरुषार्थ और मस्ती का आलम दृष्टिगत होता है।

अपने स्तवनों में उन्होंने आध्यात्मिक विकास की क्रमिक रूपरेखा प्रस्तुत की है, जबकि अपने पदों में उन्होंने भिन्न-भिन्न समय और स्थितियों में प्राप्त अनुभवों को काव्यस्थ किया है। कवि के पदों में सहज प्रवाह का कारण यह है कि जो हृदयस्थ था वही पदस्थ हुआ है। वे किसी वादविशेष, विचारविशेष या संप्रदायविशेष के आग्रही या दुराग्रही नहीं हैं। किसी विशेष दर्शन की सर्वोपरिता का वे आग्रह नहीं रखते हैं। इसीलिए तो अध्यात्म के समग्र आकाश के दृष्टा आनंदघन से हमें आत्म-प्रबोधन, आत्मानुभव और आत्मसाक्षात्कार की पदसरिता प्राप्त होती है। अनासक्त कवि की कविता की आधारभूमि है - स्वानुभूति और उनकी कविता उसी आत्मानुभूति की प्रमाणिक अभिव्यक्ति है। इसीलिए उनकी वाणी में आत्मानुभव का तेजस्वी झंकार है। निजानुभूति से प्राप्त की गई खुमारी है, योगसाधना के अंत में प्राप्त हुआ आनंद है और आत्मस्पर्शी संयम-साधना के कारण ये अध्यात्मपूर्ण पद भावक को एक भिन्न (अलौकिक) लोक में ले जाते हैं। लोगों के कण्ठाहार बने इन पदों ने न जाने कितने लोगों को मोह-कषाय की निद्रा में से डंके की चोट के साथ जगाकर, उन्हें सच्चा पथ प्रदर्शित करके अनुभववाली का आशिक बनाया है। आनंदघन आत्मविचार करके आत्मानुभव का रस-पान करके आत्मानंद की अविचल कला प्राप्त करने का पुरुषार्थ आलेखित करते हैं।



टिप्पण

1. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, ले. मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर 1982, पृ. 121
2. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, ले. मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, मई 1983, पृ. 432
3. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर 1982, पृ. 10
4. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, मई 1983, पृ. 382
5. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर 1982, पृ. 239
6. वही, पृ. 290

7. वही, पृ. 111
8. वही, पृ. 328
9. वही, पृ. 166
10. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, मई 1983, पृ. 223-225
11. वही, पृ. 243
12. वही, पृ. 50
13. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर 1982, पृ. 107
14. वही, पृ. 13-17
15. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, मई 1983, पृ. 479
16. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर 1982, पृ. 54
17. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, मई 1983, पृ. 392
18. वही, पृ. 399
19. वही, पृ. 390 से 432
20. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर 1982, पृ. 202
21. वही, पृ. 172-175
22. वही, पृ. 191
23. वही, पृ. 198
24. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, ले. मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय मुंबई, मई 1983, पृ. 14-15
25. वही, पृ. 259
26. वही, पृ. 137
27. आनंदघन एक अध्ययन, ले. प्रका. कुमारपाळ देसाई, अमदावाद, मई 1980, पृ. 59
28. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - १, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, सितम्बर. 1982, पृ. 332-340
29. श्री आनंदघनजीनां पदो - भाग - २, मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, मई 1983, पृ. -160

4

परम्परा और आनंदघन

स्तवन के प्रकार

“उत्तराध्ययन सूत्र” के उन्तीसवें अध्ययन में शिष्य प्रश्न पूछता है :

“चउवीसत्थएणं भन्ते । जीवे किं जणयइ ?”

“हे भगवंत ! चतुर्विंशति-स्तव करने से जीव किस लोभ को प्राप्त करता है ?”
इसके उत्तर में भगवान कहते हैं :

“चउवीसत्थएणं दंसण-विसोहिं जणयइ ।”

“हे शिष्य ! चतुर्विंशति-स्तव से जीव दर्शन की विशुद्धि प्राप्त करता है ।” इस ‘दर्शन’ संज्ञा विषयक की स्पष्टता करते हुए आलोचक कहते हैं कि दर्शन का अर्थ यहाँ सम्यक्त्व* - सम्यग्दृष्टि ग्रहण करने से है ।

इस प्रकार चतुर्विंशति - स्तव से तात्कालिक फल सम्यक्त्व की प्राप्ति का मिलता है । इस सम्यक्दर्शन के बिना सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र प्रकट नहीं होता और सम्यक्चारित्र्य के बिना मुक्ति नहीं मिलती ।

जैन परंपरा में प्रभुपूजन के लिए स्तुति, स्तवन, सज्झाय जैसे काव्य-प्रकार प्रचलित हैं । स्तवन के लिए स्तोत्र, स्तव और संस्तव जैसे संस्कृत शब्द पाये जाते हैं, जिन्हें स्तवन के पर्यायवाची माने जा सकते हैं । इस स्तवन का हेतु अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में हुए चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करना है । ये तीर्थकर समान शक्ति और प्रभाव रखने वाले हैं । वे चौतीस अतिशयों से युक्त हैं । चौबीस तीर्थकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भिन्न होने के बावजूद गुणों में समान हैं । वे अट्ठारह दूषणों से रहित उपशमरस से भरपूर और सम्पूर्णानंदमय हैं । ऐसे तीर्थकर के स्तवनों को विशुद्ध अंतःकरण से, भावपूर्वक गाने से सम्यक्त्व की शुद्धि का शीघ्र फल और मोक्ष का फल मिलता है । जीव दर्शनबोधि, ज्ञानबोधि और चारित्र्यबोधि का लाभ लेकर स्तवनरूप “भावमंगल” से मुक्ति का महासुख पाता है ।

स्तोत्र में जिनेश्वरदेव के विशिष्ट सद्गुणों का कीर्तन किया गया होता है । दो प्रकार की स्तोत्र रचना मिलती है । एक प्रकार है नमस्काररूप स्तोत्र और दूसरा

* दुराभिनवेशरहित पदार्थों का श्रद्धान अथवा स्वात्म प्रत्यक्षपूर्वक स्व पर भेद का कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक सम्यक्त्व (सम्यक्दर्शन) कहलाता है ।

प्रकार है तीर्थकर का गुणकीर्तनरूप स्तोत्र ।¹ इस स्तोत्र के अलग-अलग प्रकार देखने को मिलते हैं । नामस्तोत्र, रूपस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, गुणस्तोत्र और आशीर्वादात्मक स्तोत्र - इस प्रकार पाँच भेद किये गए हैं । जबकि कई विद्वान तीन प्रकार ही मानते हैं : आराधनास्तोत्र, अर्चनास्तोत्र और प्रार्थनास्तोत्र । इसी प्रकार द्रव्य, कर्म, विधि और अभिजन - इस प्रकार भी स्तोत्र के चार विभाग किये गए हैं ।

इन स्तोत्रों में प्रभु गुणकीर्तन होता है । जैन धर्म में जिन की स्तुति अन्य धर्मों में प्राप्त प्रभुस्तुति जैसी नहीं है । हिन्दू आदि धर्मों में जिस प्रकार ईश्वर लोगों का कल्याण अपने वरदानादि से करते हैं वैसे तीर्थकर नहीं करते वे जीवों से अपने कर्म का नाश स्वयं अपनी तपस्यादि चरित्र पालन से करके परम श्रेय मोक्ष को पाने का उपदेश देते हैं । हिन्दू धर्म के भक्तिमार्ग में जिस प्रकार ईश्वर जगत के नाथ हैं, वे समस्त इच्छाओं को पूरी करने वाले हैं और सम्पूर्ण जगत ईश्वर की मंगलमय सर्जना है, इस प्रकारकी अवधारणा जैन धर्म के आराध्य तीर्थकरों के बारे में नहीं है । फिर भी भक्तिमार्ग के प्रभाव के कारण स्तवनों में ईश्वरकृपा और ईश्वर को नाथ या प्रीतम मानने की वृत्ति देखने को मिलती है । जैन धर्म में तीर्थकरों के शरण में जाने की बात नहीं है, लेकिन उनके मार्ग पर चलने के लिए तीर्थकर पर आस्था होनी चाहिए । परन्तु स्तवनसाहित्य में ऐसी ईश्वरशरण की बातें देखने को मिलती हैं । इस प्रकार स्तवनों में भक्ति की प्रधानता, ईश्वरकृपा की याचना, ईश्वर की शरणागति, दास्यभाव से मुक्ति की प्रार्थना और प्रभु को स्वामी मानने की जो भावना देखने को मिलती है, वह हिन्दू धर्म के भक्तिमार्ग के प्रभाव के कारण आयी हुई है ।

स्तोत्ररचना की इस जैन परम्परा का प्रारंभ संस्कृत में सिद्धसेन दिवाकर (विक्रम की पाँचवी सदी) से हुआ देखने को मिलता है । पंडित सुखलालजी सिद्धसेन दिवाकर को 'आद्य जैन तार्किक, आद्य जैन कवि, आद्य जैन स्तुतिकार, आद्य जैनवादी, आद्य जैन दार्शनिक और आद्य सर्व दर्शन संग्राहक' मानते हैं ।²

इसके बाद स्वामी समन्तभद्र ने जैन साहित्य में अनेक नवीन परम्पराओं का मार्ग प्रशस्त किया । इन्होंने चौबीस तीर्थकरों की स्तुति की रचना की और इसके परिणामस्वरूप जैन साहित्य में स्तोत्र रचना की एक नई परंपरा की शुरुआत हुई । स्वामी समन्तभद्र ने 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्र में चौंसठ पद्यों में भगवान महावीर की स्तुति करने के साथ-साथ वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक इत्यादि दर्शनों की समीक्षा करके अनेकांतवाद का भी वर्णन किया । स्वामी समन्तभद्र के 'आप्तमीमांसा' स्तोत्र में एकांतवाद का निरसन किया गया है । इसके बाद विक्रम की छठी सदी में आचार्य देव नंदि ने 'सिद्धिप्रियस्तोत्र' की रचना की, जिसमें पदान्त यमक और चक्रबंध का प्रयोग किया । आठवीं सदी में श्री मानतुंगसूरि ने अपनी रचनाओं में मंत्र, तंत्र, यंत्र जैसे शास्त्रीय विषयों की रचना की । उनका "भक्तामर स्तोत्र" अत्यन्त लोकप्रिय हुआ । श्री हरिभद्रसूरि (ई. स. 701-771) और बप्पिभद्रसूरि (ई. स. 744-809) ने भी स्तोत्र साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया । विक्रम की ग्यारहवीं सदी में श्री जम्बुमुनि ने "जिनशतक" की रचना की और उसमें स्रग्धरा छंद का एवं शब्दालंकारों का प्रयोग किया । श्री शोभनमुनि (दशवीं सदी का उत्तरार्ध) ने

“स्तुति चतुर्विंशतिका”की यमकमय रचना की। आचार्य हेमचंद्राचार्य (ई. स. 1089-1173) ने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्तोत्ररचनापद्धति का अवलम्बन तो लिया परन्तु उसमें उनके अगाध ज्ञान का योग होने से इन स्तोत्रों में चिंतन को महत्वपूर्ण स्थान मिला। इसके बाद अलंकारयुक्त स्तोत्र रचनाएँ होने लगी और जिनप्रभुसूरि (विक्रम की तेरहवीं सदी) ने भिन्न-भिन्न अलंकार और छंदोंवाले सात सौ स्तोत्रों की रचना की। श्री कुलमंडनसूरि, जयतिलकसूरि, जयकीर्तिसूरि आदि साधुओं ने चित्रकाव्यमय रचनाएँ की। श्री सोमसुंदरसूरि, रत्नशेखरसूरि और समयसुंदरगणि ने भी महत्वपूर्ण स्तोत्र रचनाएँ की। इस प्रकार जैन परंपरा में समृद्ध स्तोत्रसाहित्य की रचनाएँ हुई देखने को मिलती हैं।³

इन स्तोत्रसाहित्य में प्रादेशिक भाषा में स्तवन की परंपरा का उद्भव हुआ है। प्रारंभ में इन स्तवनों में सरल संक्षिप्त और गुणपरक स्तुति ही मिलती थी परन्तु धीरे-धीरे इसका विकास होने पर इसमें अन्य विषयों का समावेश होने लगा। इन स्तवनों में वैयाकरणों ने व्याकरण के विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा स्तुति की। यात्रिकों ने मंत्रगर्भित स्तुतियों की रचनाएँ की। इसके बाद तो तरह-तरह के व्यंजन और फलफलादि को आलम्बन बनाकर स्तुतियों की रचनाएँ की गईं। इन स्तवनों में कहीं-कहीं तो प्रभु के गुणों का सिर्फ कीर्तन होता है। जैसे कि श्री जिनमहेन्द्रसूरि तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ जिन स्तवन में प्रभु के गुणों को दर्शाते हुए कहते हैं :

“जय जय जगदाधार, सुविधि जिणंदा रे;
सारे सुर नर सेव अधिक आनंदा रे;
सुर तरुनौ अवतार, सिव सुखकंदा रे;
समर्या पूरइ काज, काटै फंदा रे;
पाप विदारण स्यामं, कोटि जिणंदा रे;
तुज गुण अंत न पार, कहत सुरिंदा रे;
चाहे तुझ पद सेव, महेन्द्र मुणिंदा रे.”

ऐसे स्तवनों में तीर्थंकरों का गुण-कीर्तन होता है और कई बार तो ये गुणानुवाद मात्र विशेषणों से ही किये गये होते हैं। योगी आनंदघनजी ने भी सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वजिन स्तवन का ऐसा ही गुण-कीर्तन करते हुए मात्र विशेषणों से तीर्थंकर की महिमा गाई है :

“शिवशंकर जगदीसरु चिदानंद भगवान,
जिन अरिहा तित्थंकरु ज्योति सरुप समान, ललना”
“अलख निरंजण वच्छलू, सकल जंतू विसराम
अभयदान दाता सदा, पूरण आतमराम”

(गाथा : 3, 4)

तुच्छ मनुष्य अपने उद्धार के लिए और सांसारिक आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाने के लिए तीर्थंकर देव से दर्दभरी विनती करते या गिड़गिड़ाते हों, ऐसे स्तवन मिलते हैं। इन स्तवनों में प्रभु को परमस्थान, परमज्ञान और परम आत्मरूप मानकर जीव विनती करता है। श्री खुशालमुनि अपने श्री नमिजिन स्तवन में अपना

अक्षय खजाना रखने वाले “साहिबा” से सेवक को कुछ देने की विनती करते हैं। उनके दरबार में रात-दिन खड़े रहकर जरा भी कमी न आये इस तरह स्वयं सेवा करते हैं और अन्त में वे जिनवर को विनती करते हैं :

“भुजने आपो बहाला बंछितदान जो,
जहवो रे तेहवो छुं तो पण ताहरो रे;
बहालो बहेलो रूड़ो सेधक वान जो,
दोष न कोई रे गणजो माहरो रे.
जगबंध्य जाणीने ताहरे पास जो,
आव्यो रे उमाह धरीने नेहशुं रे,
श्रीअखायचंदसूरीश पासये आश जो,
सफणी फणी छे खुशालमुनिने जेहशुं रे.”

इसी प्रकार श्री हरखचंदजी श्री शांतिनाथ जिन स्तवन के प्रारंभ में कहते हैं कि ‘चित्त चाहत सेवा चरनन की।’

प्रभु को प्रियतम या मित्र मानकर भी इसका गुणगान किया जाता है। आनंदघनजी ने ऋषभ-जिन के प्रथम स्तवन में उन्हें “प्रीतम” कहा है। प्रभु को प्रियतम मानकर प्रभु अपने को भूल गए, इस प्रकार के उपालंभ वाले स्तवनों की भी रचना हुई है और ऐसे स्तवनों में कृष्णभक्ति के पदों की झलक भी देखने को मिलती है। अमृतविजयजी नेमिनाथ स्तवन में गुलाल उड़ते हुए प्रियतम की बात करते हुए कहते हैं :

“रस बस के संग है कुरकवा, वा न दूर हिया रिड़ेगी;
केसर भरी पिचकारी निवारी, सुरंग चुनरिया भीजेगी,
पीरी भई पियु पियु रटनायें, जैसी जुन्हीया छीजेगी,
खेल बरज सरिखा की महिया, कहा जू सुनइया कीजेगी
मन भावन पिया नेमिसर सों अमृत रस या पीजेगी.”

प्रभु को ‘मुजरा’ लेने के लिए भी कहा जाता है और यह “जन्म जन्म का सेवक” (‘भव भव सेवक’) उनके पास मांगता है :

“काई जोज्यो काई जोज्यो रे, स्वामीड़ा मुने नेहभर जोजेयो
मुजरो ल्यो के पास जिणंदा, टाणी जे भव फेरो रे...”

श्री कांतिविजयजी रचित पार्श्वजिन स्तवन में इस प्रकार ‘स्वामीड़ा’ के पास याचना की गई है तो प्रभु को उपालंभ देते हुए स्तवन भी मिलते हैं —

“बापापणे आपण ससनेही, रमता नद्य नव वेषे;
आज तुमे पाम्या प्रभुताई, अमे तो संसारीने वेषे,
हे प्रभुजी ! ओलंभडे मत खीजो.

जो तुम ध्याता शिव-सुख लहीए, तो तुमने कोई ध्यावे;
पण भवस्थिति-परिपाक थया विण, कोई न मुक्ति जावे।

हे प्रभुजी !”

स्तवनों में तीर्थकर के जीवन को अथवा उनके जीवन की किसी एक घटना

34 : आनंदघन

(प्रसंग) को निरूपित किया जाता है। इस प्रकार तीर्थंकर के बाल्यकाल, यौवनकाल या दीक्षा काल (अवस्था) की किसी महत्ता का निरूपण किया गया होता है। च्यवन*, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण इसमें से किसी एक की महत्ता का वर्णन किया जाता है। आनंदघनजी ने श्री नेमिनाथ जिन स्तवन में नेम-राजुल के प्रसंग का निरूपण किया है। श्री यशोविजयजी महाराज ने विकराल वैताल को वश में करने वाला बाल वर्धमान का प्रसंग “महावीर जिन स्तवन” में महावीर के जीवन की झलक निरूपित करते हुए कहते हैं :

“बंदो वीर जिनेश्वर राया, त्रिसलादेवी जाया रे;
हरी लंछन कंचनवर काया, अमरवधु हुलराया रे;
बाणपणे सुरगिरि डोलाया, अहि वैताल हराया रे,
इन्द्र कहण व्याकरण निपाया, पंडित विस्मय पाया रे,
त्रीस वरस घरबार रहाया, संयम शु लय माया रे;
बार वरस तप कर्म खपाया, केवण नाण उपाया रे.”

स्तवनों में भक्त जिस प्रकार प्रभु-कीर्तन करता रहता है उसी प्रकार कभी-कभी वह आत्मनिन्दा भी करता है। वह अपने अवगुण बताता है, अपनी कमियों और कमजोरियों को बताकर उनमें से उबारने के लिए तीर्थंकर से विनती करता है

:

“विहरमान भगवान ! सुणो मुज विनति,
जग-तारक ! जगन्नाथ ! अछो त्रिभुवनपति,
भासक लोकलोकतणा जाणो छति,
तो पण वीतक बात कहूँ छुं तुज प्रति,
हुं सरूप निज छोड़ी रम्यो पर-पुद्गले,
झील्यो उल्लट आणी विषय-तृष्णा-जले,
आस्रव-बंध विभाव करूँ रुचि आपणी
भूल्यो मिथ्यावास दोष दऊँ पर-भणी ।”

इस स्तवन में जिस तरह आत्मनिन्दा करके स्तुति की गई है उसी तरह किसी-किसी स्तवन में आत्मानन्द का गान किया गया होता है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर अंतर में अपार आनंद होता है और कई स्तवनकारों ने इसको अपने स्तवनों में गाया है। श्री जिनलाभसूरि कुंथुजिन स्तवन में कहते हैं :

“साहिब कुंथु जिणंद मंदिर पाउधारीयाजी जिनराज,
अति घणो उल्लट आण मोतीयडे वधावियाजी ।”

कवि तीर्थंकर कुन्धुनाथ भगवान का भव्य वर्णन करते हैं। लोग जय-जयकार करते हैं। गणधर और इन्द्र भी आये हैं। वदन, नासिका और अधर अपूर्व सुशोभित होते हैं। कवि कहते हैं कि उनका मनमंदिर अत्यन्त उल्लास से भर गया है और अन्त में गा उठते हैं :

* माता की कुक्षी में तीर्थंकर का गर्भ के रूपमें आना ।

“आतमें आतम उत्तम, दिव्य प्रगट कियो जी,
श्री जिनलाभे कुंथु, आवत आदर दीयो जी ।”

उपाध्याय श्री यशोविजयजी श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन में कहते हैं :

“आज सफल दिन मुज तणो, मुनिसुव्रत दीठा;
भागी ते भावठ भव तणी, दिवस दुरितना नीठा ।”

इसी प्रकार समतारस का पान करके मौज उड़ाते हुए चिदानंदजी कहते हैं कि अब तो हरि, हर, ब्रह्म या इन्द्र की सिद्धि भी सामान्य लगती है ।

कवि कहता है :

“हम मगन भये प्रभु ध्यान में, हम मगन भये प्रभु ध्यान में,
विसर गई दुविधा तन-मन की, अरिरा-सुत-गुण-गान में ।”

अध्यात्मयोगी आनंदघन भी विमलजिनेश्वर के दर्शन पाकर दुःख और दुर्भाग्य दूर होने और सुख-सम्पत्ति से मिलन होने का आनंद प्रकट करते हैं और इससे भी विशेष श्री धर्मजिन स्तवन में तो कवि प्रभुभक्ति की ऐसी मस्ती में हैं :

“धरम जिणेसर गावुं रंगस्युं

भंग म पड़ज्यो हो प्रीत्य,

बीजो मनमंदिर आणुं नहीं,

ए अम्ह कुलवट रीति ।”

(स्तवन : 15, गाथा : 1)

स्तवनों में आत्मनिन्दा, प्रभुप्रशस्ति जैसे विषय सर्वसामान्य हो गये थे तब इन स्तवनों के प्रकार में अध्यात्मभाव की चर्चा करने की विलक्षण रीत आनंदघन जैसे साधक अपनाते हैं । श्री हेमचन्द्राचार्य ने “सकलार्हतस्तवन” में जैन दर्शन के सिद्धांतों की चर्चा की है । मोहनविजयजी (लटकाला) और चिदानंदजी ने अपने स्तवनों में तात्त्विक चर्चा की है ।

स्तवनों की सामान्य परिपाटी से हटकर आनंदघनजी स्तवनों की नवीन परंपरा की शुरुआत करते दिखाई देते हैं । उनके स्तवनों में रुढ़ भाव नहीं हैं, परम्परागत गुणवर्णन नहीं हैं, उपमा, दृष्टांत आदि अलंकारों की चमत्कृति नहीं है परन्तु इन स्तवनों में सत्यशोधक, आत्मगवेषणा करनेवाले आत्मज्ञानी की आत्मखोज का बयान है । अंतर में हिलोरें लेती भक्ति की अनुभूति के साथ-साथ साधक के अनुभवों में से जाने कितना नवनीत अपने आप निकलता आता है । इसमें ज्ञान की गहनता है, भक्ति की मृदुता है, अध्यात्म की गूढ़ता है और इससे भी विशेष है कि यह सब सहजरूप से व्यक्त हुई है । इसी कारण ज्ञानसार जैसे विद्वान ने छत्तीस-छत्तीस वर्ष तक ‘आनंदघन बावीसी’ पर चिन्तन-मनन करने के बाद ‘बालावबोध’ लिखा तब उन्हें आनंदघन का आशय ‘अतिगंभीर’ लगा था । उन्होंने आनंदघन की रचनाओं को ‘टकसाल’ अर्थात् नकद सत्य का मूल्यवान उपदेश देनेवाली कहा है ।

आध्यात्मिक उन्नति का बोध

योग और अध्यात्म के आत्मसात् किये हुए रहस्य किस प्रकार प्रकट हों ? समर्थ योगी, महान अध्यात्मज्ञानी और आगम के अभ्यासी साधक की वाणी का

स्वयंस्फुरित झरना किस तरह प्रकट होता है ? आनंदघन के स्तवनों का प्रारंभ ज्ञान, भक्ति और योग की अनुपम त्रिवेणी से होता है । वे हमें यकायक साधना की गहराई में नहीं ले जाते; अपितु, क्रमशः इसके एक से बढ़कर एक बढ़िया उन्नत सोपानों को दर्शाते हैं । आनंदघन ने प्रारंभ किया है भौतिक प्रेम और प्रभु प्रेम के बीच अन्तर बताकर, भौतिक प्रेम के संदर्भ में उच्च आध्यात्मिक प्रेम की विशेषता दर्शाकर । इसके बावजूद ऋषभ जिनेश्वर को वे “प्रीतम माहरा” कहते हैं परन्तु कहीं भी इस ‘प्रीतम’ के प्रति भावुकता का पागलपन नहीं दिखाया है । उसके सामने प्रणय का लाड़ भरा उद्गार निकाला नहीं । यह प्रीति तो गौरवशाली प्रीति है, यह किसी लाचार की शरणागति नहीं है । यह प्रीति तो आत्मखोज के अन्त में मिली एकलीनता है, यह कोई सोपाधिक प्रीति नहीं है ।

इसीलिए योगी आनंदघन बाह्य प्रीति का विरोध करते हैं । सांसारिक प्रेम तो प्रीति की बात करता है । उसमें पुद्गल याने शरीर का आकर्षण होता है । जबकि आनंदघन तो आत्मा की विशुद्ध स्थिति से प्राप्त होनेवाले प्रभुप्रेम की चाह करते हैं । इसके लिए बाह्य तप या लीला के लक्ष्य स्वरूप की निन्दा करते हैं । यहाँ ध्यान, ध्येय और ध्याता एकरूप हो जायें ऐसे भावपूजन की बात है । मन में कहीं कपट न हो, मन में कहीं क्लेश न हो, आत्मा में कहीं भी विकार न हो ऐसी शुद्ध चेतना का आत्मसमर्पण है । ऐसी पूजा का फल ही है चित्त की शांति । ऐसी चित्तशांति की प्राप्ति के मार्ग का कवि निर्देश करता है । इस तरह प्रथम स्तवन में परमात्मप्रीति का दर्शन आनंदघन ने वर्णित किया है ।

प्रथम स्तवन में स्थूलप्रीति और आध्यात्मिक प्रीति के बीच अन्तर दिखाकर प्रभु की स्थायी प्रीति की महिमा का गान हुआ है । अब इस प्रीति के मार्ग द्वारा आगे बढ़ना है । उस दिव्यमार्ग का अनुसरण करना है और उसका वर्णन आनंदघन दूसरे स्तवन में करते हैं । इस मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है, क्योंकि सत्य का मार्ग कभी सरल नहीं होता । इस मार्ग पर चलने के लिए अजितनाथ जिनेश्वर के पंथ को निहारते हैं, तब पता चलता है कि जिन आंतर-शत्रुओं से मैं पीड़ित हूँ उसे जिनेश्वर ने जीत लिया है । जिस रागद्वेष* को भगवान ने वश में करके अंकुश में रखा है वही रागद्वेष अपने को अंकुश में रखता है । ऐसा प्रभु का पंथ चर्मचक्षु से कैसे देखा जा सकता है । इसके लिए तो रहस्य को परखनेवाले दिव्य-चक्षु चाहिए । इस पंथ पर चलने के लिए पूर्व-परम्परा की आवश्यकता है लेकिन वह भी सही मार्गदर्शक नहीं है । वाद और विवाद के चक्र में तर्क गोल-गोल घूमा करता है । इस तरह स्थूल-चक्षु, पुरुष-परंपरा और तर्क-विचार प्रभु के मार्ग को प्रशस्त नहीं करते । आगमदृष्टि से विचार करें तो कहीं भी खड़े रहने की जगह नहीं है । अन्ततः कालोपलब्धि के पश्चात् पंथ निहारने के परिणाम की आशा रखकर उसका अवलम्बन करते हैं । इस दूसरे स्तवन में कवि दिखाता है कि मार्ग पर चलनेवाले को वाद-विवाद या परंपरा के स्थान पर आत्मदृष्टि से आगे

* इष्ट पदार्थों के प्रति रति भाव को राग कहते हैं । यह शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है^२। अनिष्ट के प्रति अप्रीति रखना भी मोह का ही एक भेद है जिसे द्वेष कहते हैं ।

बढ़ना चाहिए; तभी उसकी परमात्म-मार्गदर्शन की अभिलाषा सिद्ध होगी।

पहले स्तवन में परमात्मा के साथ प्रीत स्थापित की दूसरे स्तवन में उसका मार्ग निहारा और अब इस परमात्मा की सेवा का रहस्य जानेंगे। परमात्मा की सेवा के लिए शुद्धि की सज्जता विकसित करना चाहिए। कवि आनंदघन मात्र तीन शब्दों में उस सज्जता को प्रदर्शित करते हैं। उन्होंने अभय, अद्वेष और अखेद धारण करने को कहते हैं। और फिर भय, द्वेष और खेद की सूक्ष्म समझ देते हैं। विचारों का अस्थायीपन वही भय है, अरुचि ही द्वेष है और प्रभु सेवा के प्रति प्रमाद ही खेद है। इस तरह अभय, अद्वेष और अखेद से भूमिका शुद्धि होती है, तब साधक योग के रहस्यों के साथ मिलकर आगे बढ़ता है। जब वह परमपुद्गल परावर्त * में आता है, तीसरा करण करता है और उसकी भवस्थिति परिपक्व अवस्था को प्राप्त करती है तब मोक्ष मार्ग के प्रति उसकी दृष्टि खुल जाती है। पाप का नाश करने वाले साधु पुरुष का परिचय होता है। अशुभ वृत्तियों का क्षय होता है और उसके भीतर नयवाद की सही समझ पैदा होती है। ऐसी भूमिका तैयार होने के बाद ही अगम्य और अनुपम प्रभु सेवा संभव है।

जैन दर्शन अनेकांत दर्शन है। एकांत दर्शन से तो आंशिक सत्य प्राप्त होता है। अनेकांत दर्शन से पूर्ण सत्यदर्शन प्राप्त होता है। यहाँ परमात्मा का दर्शन अर्थात् सम्यक्दर्शन की महत्ता आनंदघनजी ने गाई है। इस सम्यक्दर्शन के बीच बहुत से अवरोध खड़े हैं। प्रत्येक मतावलम्बी अपने ही मत को श्रेष्ठ बताता है। इससे भी आगे दूसरे का मत बिल्कुल तुच्छ है ऐसा आग्रहपूर्वक कहते हैं। कहीं भी निष्पक्ष या विशुद्ध दृष्टि देखने को नहीं मिलती। सभी जगह मतांधता दिखाई देती है और ऐसे समय में प्रभुदर्शन का पक्का निर्णय कहाँ से हो ? बंधन में पड़ा हुआ अंधा मनुष्य रवि-शांश के रूप को कैसे बता सकता है ? तदुपरांत परमात्मा के दर्शन में घातीकर्मरूपी ** पर्वत आड़े आते हैं और इसलिए कवि आनंदघन परमात्मा के दर्शन की छटपटाहट और उसमें आनेवाले अवरोधों का बयान करते हुए कहते हैं :

“दरसन दरसन रटतो जे फिरँ ते रनि रोज़ समान,

जेहने पिपासा हो अमृतपाननी किम भाजे विषपान ।”

दर्शन की उत्कंठा कितनी अधिक तीव्रता से व्यक्त हुई है ! प्यास तो ऐसी है कि जैसे रोज़ को गरमी में पानी की प्यास लगे और ‘पानी’ ‘पानी’ चिल्लाता हुआ जगह-जगह फिरने लगे। स्वयं परमात्म-दर्शन के लिए छटपटाता है, तड़पता है परन्तु परिस्थिति कैसी है ? इच्छा है अमृतपान की और मिलता है विष का कटोरा !

परमात्म-दर्शन के लिए आत्मसमर्पण चाहिए; जो ममत्व और अपनेपन से अलग नहीं होता वह उसके सच्चे स्वरूप को कहाँ से पा सकता है ? इसीलिए पाँचवे स्तवन में आनंदघन भगवान सुमतिनाथ के चरणों में आत्मसमर्पण करने को कहते

* जीव जिन पुद्गलों को ग्रहण कर कर्म फल भोगे और पुनः उन्हीं का ग्रहण करे इस प्रक्रिया को पुद्गल परावर्त कहते हैं।

** केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चरित्र और वीर्यरूप जो अनेक भेद भिन्न जीव गुण हैं उनके विरोधी अर्थात् घातक कर्म घातीकर्म कहलाते हैं।

हैं। आत्मा के तीन स्वरूप बताये हैं - बाह्यात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। बाह्य वस्तु में जो आत्मा समायी हुई है वह है बहिरात्मा, जो अंतरंग विशुद्ध दर्शन करे और ज्ञानमयी चेतना में आत्मबुद्धि का संचार करे वह अंतरात्मा और जो समस्त कर्मों का क्षय करके कैवल्य प्राप्त करे वह परमात्मा। ऐसे पूर्ण, पवित्र और ज्ञानानंदमय परमात्मा की उपासना करे। जो बाह्यात्मा को त्यागकर अन्तरात्मा में तन्मय हो जाता है वही परमात्मभाव को प्राप्त करता है।

परमात्मा के साथ स्वयं का इतना बड़ा अन्तर कैसे हुआ ऐसे प्रश्न से आनंदघनजी श्री पद्मप्रभुजिन स्तवन का प्रारंभ करते हैं और स्तवन में इस अन्तर को दूर करने का उपाय बताकर स्तवन के अन्त में अन्तर समाप्त होने पर प्राप्त होने वाली आनंदमयी स्थिति का उल्लासपूर्ण गान करते हैं। प्रभु और स्वयं के बीच जो अन्तर पड़ा उसका कारण है कर्म का विपाक। कर्म की प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के कारण यह अन्तर स्थापित हुआ है। आत्मा के मूल गुण को प्रकट करके अर्थात् गुणकरण से इस अन्तर को दूर करना है। गुणकरण ही अन्तर को समाप्त करने का अमोघ मार्ग है और जब यह अन्तर खत्म हो जायेगा तब साधक की आत्मा साध्य में लीन हो जायेगी, मंगल वाद्य का मधुर गुंजन होगा, हृदय में आनंद की लहरें हिलोरे लेने लगेंगी।

जिसके साथ एकाकार होना है वह परमात्मा कैसा है। आत्मा की पहचान तो पा ली परन्तु अभी परमात्मा को पहचानना बाकी था। तीर्थंकर श्री सुपार्श्वजिन के सातवें स्तवन में आनंदघन परमात्मा की पहचान करवाते हैं। संसार रूपी समुद्र में सेतु के समान सात महाभय को दूर करने वाले शिवशंकर और चिदानंद जैसे ये तीर्थंकर ज्योति स्वरूप हैं और इस तरह अनेक विशेषणों से कवि परमात्मा के भव्य स्वरूप की झांकी प्रस्तुत करते हैं और एकाग्र मन से उसकी सेवा करने को कहते हैं।

ऐसे परमात्मा को देखने के लिए साधक को कैसे-कैसे प्रयास करने पड़ते हैं। आठवें श्री चन्द्रप्रभुजिन स्तवन में चन्द्रप्रभु 'मुखचंद्र' को देखने के लिए उन्होंने कौन-कौन से शोध किये, यह दर्शाया गया है। सूक्ष्म निगोद*, बाह्य निगोद और एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी स्थानों में घूमने के बावजूद जिनवर से कहीं मिलन नहीं हुआ। इस मिलन के लिए योगावंचक होना चाहिए, बाद में क्रियावंचक बनकर और अन्त में फलावंचक होने को कहते हैं। यदि ऐसा हो तभी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले जिनवर से मिलन हो।

प्रभु-पूजा के अनेक भेद कवि ने परवर्ती सुविधिनाथ जिन स्तवन में बताये हैं। यहाँ पूजनकार्य और पूजनफल के बारे में वे बताते हैं। पूजा का शीघ्र फल आज्ञापालन है और परंपरा-फल मुक्ति है। वे भावपूजा और प्रतिपत्ति पूजा का गौरव स्थापित करते हैं। उचित रूप से हुई ऐसी परमात्मापूजा से आनंदघन के पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

यह परमात्मा भी कैसा है ? करुणा, तीक्ष्णता और उदासीनता की त्रिभंगी

* जो अनंत जीवों को एक निवास दे उसे निगोद कहते हैं। इसमें स्थित जीव सूक्ष्म और बादर होते हैं।

जो प्रथम दृष्टि में विरोधी प्रतीत होती है, उनमें एकसाथ निवास करती है। सर्वजनों की कल्याण करनेवाली करुणा है तो कर्म के समूह को काटनेवाली तीक्ष्णता है और इससे भी अधिक उदासीनता निहित है। त्रिभुवन के स्वामी होने के बावजूद वह निर्ग्रथ है। ऐसे परमात्मा का विचित्र और आश्चर्यजनक गुणों से युक्त चरित्र का वर्णन करते हुए आनंदघन ने कुशलता से परमात्मा की महत्ता प्रकट की है।

ऐसे विराट परमात्मा की प्राप्ति के लिए अंतर में अध्यात्म की स्थिति धारण करना होता है। श्री श्रेयांसनाथ जिन के ग्यारहवें स्तवन में आनंदघनजी सच्चे आध्यात्मिक की पहचान कराते हैं। यह आध्यात्मिक उस आत्मस्वरूप में विहार करके अहर्निश आत्मतत्त्व का चिन्तन करता है। उसमें निरन्तर आत्मस्वरूप को साधने की प्रक्रिया चलती होती है। नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म और द्रव्य अध्यात्म* का कवि विरोध करता है। कोई अध्यात्म को लगातार रटता रहे, कोई अध्यात्म की स्थापना करता फिरे और कोई द्रव्य आध्यात्मिक क्रिया कर्म करे लेकिन आत्मा को न जाने यह कैसे हो सकता है? इन तीनों का विरोध करके आनंदघन भाव अध्यात्म* का आदर करते हैं। जहाँ सिर्फ आत्मस्वरूप का ही ध्यान लगाया जाता है उसे ही सच्चा अध्यात्मी समझिए।

श्री वासुपूज्य जिन स्तवन में कवि आत्मा को भलीभाँति पहचानकर पुद्गलों के साथ का क्षणिक और अस्थायी सम्बन्ध छोड़कर अनन्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में लीन होकर आत्मानंद का अनुभव करने का निर्देश करते हैं। इस बारहवें स्तवन में अनेक अलग-अलग दृष्टिबिन्दुओं से आत्मविचार किया गया है। विषयकषाय को मंद करना, परिणति की निर्मलता रखना और इस तरह निष्कर्मी का आदर्श रखने को कवि कहते हैं। मनुष्य के रूप और उसके आत्मज्ञान के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होता। आनंदघनजी तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो सच्चा आत्मज्ञानी है वही श्रमण है, बाकी सभी तो सिर्फ वेशधारी हैं।

अध्यात्ममार्ग के गूढ़ रहस्यों को एक के बाद एक प्रकट करनेवाले आनंदघनजी श्री विमलजिन स्तवन में प्रभुभक्ति की मस्ती विखेरते हैं। तत्त्वज्ञान की जगह परमात्मा की भक्ति का वर्णन करते हुए कवि का हृदय हर्षोल्लास से भर जाता है। प्रभु के साथ एकता स्थापित हो तब कैसे अनुपम आनंद की प्राप्ति होती है। जिस मस्ती का गान आनंदघन के पदों में मिलता है उसी मस्ती का संकेत इस स्तवन में मिलता है। जिनवर के दर्शन होते ही दुःख और दुर्भाग्य दूर हो गया और आत्मिक सुख तथा अविनाशी सम्पत्ति (वैभव) का मिलाप हुआ। स्वयं को समर्थ स्वामी मिलने के कारण आनंद का पार नहीं। उसके दर्शनमात्र से सारे संशय मिट जाते

* किसी व्यक्ति का वस्तु का या इच्छिक नाम यदि अध्यात्म हैं तो उसे नाम अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्म के प्रतीक किसी व्यक्ति या वस्तु के चित्र या मूर्ति को स्थापना अध्यात्म कहते हैं। कोई व्यक्ति वास्तव में आध्यात्मिक हो ओर वैसा ही जीवन जीना उसका स्वभाव हो तो उसके अध्यात्म को द्रव्य अध्यात्म कहते हैं।

* कोई व्यक्ति तत्काल आध्यात्मिक जीवन जी रहा हो उसके उस वर्तमानकालिक अध्यात्म का भाव अध्यात्म कहते हैं।

40 : आनंदघन

हैं। अनुपम और अमृतमय उसकी मूर्ति को देखता हूँ परन्तु तृप्ति नहीं होती है। अन्त में कवि जिनदेव से विनती करता है कि मुझे आपकी सेवाभक्ति सदैव मिलती रहे ऐसी कृपा कीजिए।

तलवार की धार पर नृत्य करना कठिन है, परन्तु जिनेश्वर की सेवा तो इतनी दुष्कर है कि उसके आगे तलवार की धार पर नाचना सरल लगता है। जड़ क्रियावादी सही जानकारी एवं समझ के अभाव में चार गति में भ्रमण किया करते हैं। कई लोग गच्छ के भेदों में इतनी ममता रखते हैं कि वे तत्त्व को ही भूल गये होते हैं। सच्ची सेवा के लिए सम्यक्त्व धारण करना होता है। देवता, गुरु और धर्म की प्रतीति प्राप्त करना होता है, सूत्र के अनुसार क्रिया करनी चाहिए। सापेक्ष वचन बोलने चाहिए ऐसा हो तभी परमात्मा की सच्ची सेवा हो सकती है। जड़ क्रिया, गच्छ के भेद, निरपेक्ष वचन और सूत्र से विपरीत भाषण में यदि साधक फँस जाय तो उसकी समस्त क्रिया धूल पर लीपने जैसी व्यर्थ है।

श्री धर्मनाथ जिन स्तवन में आनंदघनजी कहते हैं कि मेरी जिनेश्वर के साथ अटूट प्रीति है। मैं रात-दिन उनके गुणगान में मस्त हूँ। पूरी दुनिया धर्म की बात करती है परन्तु सच्चे धर्म को जानती नहीं। जो धर्म जिनेश्वर के चरणों की सेवा करता है वह मनुष्यकर्म से अलिप्त रहता है और उससे सद्धर्म की प्राप्ति उसे होती है। जो पुद्गल को पहचानता है और आत्मा को नहीं जानता, वह भला धर्म के बारे में कहाँ से जाने ? यदि वह ज्ञानरूपी सुरमे का अंजन करे तभी उसे अनमोल खजाना दिख सकता है। मन जितना दौड़ सकता था उतना मैं दौड़ा परन्तु अपने अंतर को पहचानना मैं भूल गया। ज्ञानरूपी प्रकाश के बिना अंधे के पीछे अंधा चलता है, ऐसी स्थिति हो गयी है। इसलिए भँवरे की तरह जगह-जगह फिरने के बदले सच्चा ज्ञान प्राप्त करके स्थिर चित्त से प्रभुपूजन करने का उपदेश आनंदघनजी ने दिया है।

श्री शांतिनाथ प्रभु से कवि आनंदघनने शांति-स्वरूप जानने की जिज्ञासा प्रकट की है। यहाँ कवि ने अति संक्षेप में शांतिस्वरूप का वर्णन किया है। आगमों (धर्मग्रंथों) में शांतिस्वरूप का वर्णन विस्तार से किया गया है। कवि आनंदघन यहाँ मात्र नौ गाथा में (तीसरी से ग्यारहवीं गाथा में) यह वर्णन करते हैं। शांति को खोजता मनुष्य अज्ञान के कारण अशांति से पीड़ित है, उस स्थिति में शांतिस्वरूप की पहली शर्त शास्त्रवचनों पर श्रद्धा रखना है। प्रभु द्वारा कथित छः द्रव्यों*, नौ तत्त्वों** और अट्टारह पापस्थानकों का विचार उसे अच्छी तरह से मालूम होना चाहिए। शांतिस्वरूप-प्राप्ति की दूसरी शर्त आगम को धारण करने वाले योग्य गुरु को प्राप्त करना है। शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म अपनाये तो अपने आप आत्मा से सात्त्विकता की खुशबू पैदा होगी ही। शांतिनाथ के चरित्र का वर्णन करते हुए आनंदघन कहते हैं कि वह दृढ़ आस्थावान होना चाहिए। भिन्न-भिन्न दृष्टिबिंदुओं को समझनेवाला और समझानेवाला होना चाहिए। दुर्जनों की संगत त्यागकर अच्छे

* जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल

** जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष

गुरुओं की परम्परा की भक्ति करने वाला होना चाहिए। उसके मन में योग का भाव हो, मान-अपमान या वंदक-निंदक उसके लिए समान हो और उसे आत्मस्वभाव में रमण करने वाला होना चाहिए। जीवन में सभी साथ संयोग से हुए हैं। सच्चा साथ तो तेरी आत्मिक शक्ति का है ऐसा माननेवाला होना चाहिए और जब शांतिस्वरूप का आत्मसाक्षात्कार होगा तब मैं ही अपनी अन्तरात्मा को नमन कर रहा होऊँगा। कैसी अचरजपूर्ण घटना ! अन्तरात्मा जब परमात्मा स्वरूप हो जाती है तब ऐसी अपूर्व स्थिति का निर्माण होता है। इस स्तवन में आनंदघनजी ने अत्यंत संक्षेप में शांति-स्वरूप की विशेषताओं को दर्शाया है।

जिसने मन को साध लिया है उसने सबकुछ साध लिया है। आनंदघन श्री कुंथुनाथ जिन स्तवन में ऐसे मनोविजय के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। आनंदघन ने बड़ी सहजता से मन की चंचलता का हूबहू आलेखन किया है। मन प्रभु में लगाने की कोशिश करता हूँ लेकिन मैं जितना अधिक कोशिश करता हूँ वह उतनी ही दूर भागता है। वह रात-दिन, यहाँ-वहाँ, बस्ती या निर्जन प्रदेश में आकाश या पाताल में घूमा करता है; इसके बावजूद उसे कहीं भी चैन नहीं मिलता। ज्ञान और ध्यान का अध्ययन करने वालों को यह मन बहुत बुरी हालत करता है। आगम का अभ्यासी भी इसे अंकुश में नहीं रख सकता और यदि बलात् उसे रोक भी लेता है तो वह साँप की तरह टेढ़ा-मेढ़ा होकर सरक जाता है। यह मन ठग है फिर भी किसी ने इसे उगाते हुए नहीं देखा; सभी में समाया है फिर भी किसी के हाथ में नहीं आता। लिंग से वह नपुंसक है फिर भी अच्छे-अच्छों को अपने इशारे पर नचा सकता है। मन की माया का कवि ने सुन्दर निरूपण किया है। वह दिखाई नहीं पड़ता इसके बावजूद भी पूरी दुनिया का संचालन करता है। वह किसी के पकड़ में नहीं आता फिर उसने पूरी दुनिया को पकड़ रखा है। आनंदघन वीतराग प्रभु की प्रार्थना करते हैं कि आप ऐसा कीजिए जिससे यह मन वश में रहे। इस स्तवन में आनंदघनजी ने आत्मसाधना के लिए मन पर विजय पाना कितना महत्वपूर्ण है, इसेको सुचारु ढंग से व्यक्त किया है।

परमात्मा का मार्ग देखा, पूजा की विधियाँ देखीं, शांति-स्वरूप को पाया, मन पर अंकुश पाया और अब सच्चे दर्शन की आवश्यकता है। श्री अरनाथ जिन स्तवन में स्व-सिद्धांत और परसिद्धांत के बारे में समझाया गया है। जहाँ आत्मा की बात है वहाँ स्वसिद्धांत समझना चाहिए। इसके बाद निश्चय* और व्यवहार** दोनों नय की दृष्टि से परमधर्म जानने की जिज्ञासा जतायी हैं। द्रव्य दृष्टि से आत्मानुभव एक है और उस आत्मा के अनेक पर्याय हैं। निगाह करें तो सोना पीला, भारी और चिकना लगता है, वास्तव में ये सब सोने के पर्याय हैं। इसी तरह दर्शन ज्ञान, और चारित्र्य से एक ही आत्मा के अनेक पर्याय देखने को मिलते हैं। आत्मा के एक और नित्य रूप को पहचानना और पर्यायदृष्टि (व्यवहारनय) को छोड़कर द्रव्यदृष्टि धारण करनी चाहिये। पर्याय दृष्टि रहेगी तब तक सांसारिक आवागमन

* परमार्थ का विशेष रूप से तथा संशयादि रहित अवधारण निश्चित है।

** वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्द का निश्चय करना व्यवहार हैं।

42 : आनंदघन

का चक्कर लगा रहेगा। कवि आनंदघन निश्चय दृष्टि से आत्मा को पहचानकर निर्विकल्प रस का पान करके आनंद की मस्ती में विचरण करने को कहते हैं।

उन्नीसवें श्री मल्लिनाथ जिन स्तवन में अट्टारह दोषों के निवारण की बात कही गई है। सच्चा मुनि इन अट्टारह दोषों से रहित होगा। कषाय* और नोकषाय** का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं कि इन अट्टारह दोषों से जो मुक्त हो वही सच्चा “मन विसरामी” कहलायेगा।

बीसवें स्तवन में परमात्मा से आत्मतत्त्व की पहचान प्राप्त की गई है। ऐसे गहन महत्त्वपूर्ण विषय पर आनंदघन थोड़ी पक्तियों से ही सचोट प्रकाश डालते हैं। अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, बौद्ध, लोकायतिक इत्यादि सम्प्रदायों का उल्लेख करके अपनी शंका व्यक्त करते हैं। तदुपरांत, वीतराग प्रभु इस शंका का समाधान करते हैं। जो सच्चा आत्मज्ञानी है, वही सांसारिक आवागमन से छुटकारा पाता है। इसके अलावा दूसरी सभी बातें वाक्जाल ही समझिए। आत्मा को पहचानने के लिए राग एवं द्वेष का त्याग करना होगा। इसके बाद एक बार समस्त कर्मों से मुक्ति मिले तो मनुष्य पुनः जन्म-मृत्यु के जंजाल में नहीं फँसता इसलिए आत्मा के निश्चयनय गुणों को प्रकट करना वही सच्चा आत्मधर्म है।

श्री नेमिनाथ जिन के इक्कीसवें स्तवन में कवि ने जैनदर्शन की व्यापकता वर्णित की है। दूसरे दर्शनों की ठिठोली करना या उसे हीन बताना यह मतवादियों का सामान्य उपक्रम माना जाता है। ऐसी स्थिति में अनेकांत दृष्टि में विश्वास करने वाला जैन धर्म समस्त दर्शनों का आदर करता है। छहों दर्शनों को जिनवर के छः अंगों के रूप में दर्शाया गया है। सांख्य और योग उनके पैर हैं। बौद्ध और वेदान्त मीमांसक जिनवर के हाथ हैं, लोकायतिक जिनवर की कोख है और मस्तक जैनदर्शन है। इस प्रकार अन्य दर्शनों को जिनवर का अंग बताया गया है और इसमें से किसी दर्शन की निन्दा करने वाले को दुर्भवी कहा गया है। जैनमत की विशालता समुद्र के समान है और उसमें नदी रूप भिन्न-भिन्न दर्शनों का समावेश हुआ है। इसके आगे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की उपासना की बात कही गई है और अन्त में, जैसा सुना था वैसा गुरु नहीं मिला इसका विषाद भी कवि ने व्यक्त किया है। इस स्तवन में जैन दर्शन की व्यापकता को कवि ने अत्यन्त मनोरम ढंग से अभिव्यक्त किया है।

इक्कीस स्तवनों में दार्शनिक आलेख हैं। बाइसवें स्तवन में तत्त्वविचार नेम-राजुल के हृदय-द्रावक प्रसंग के संदर्भ में व्यक्त हुआ है। राजुल के सांसारिक ताने का उल्लेख करके अंत में उसका हृदय परिवर्तन दिखाकर नेमनाथ प्रभु के मार्ग का अनुकरण करती हुई राजुल को दिखाया गया है। यहाँ राजुल की प्रीति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को चित्रित किया गया है और ऋषभ जिन स्तवन में जिस तरह प्रभुप्रीति से कवि ने शुरुआत की थी उसी तरह इस बाईसवें स्तवन में ध्येय और ध्याता का अद्वैत दिखाकर मनोहर समापन किया है।

* आत्मा के भीतरी क्लृप्त परिमाण को कषाय कहते हैं।

** आत्मा के भीतरी अल्प कालुष्य को नोकषाय कहते हैं।

स्तवनों की तुलनात्मक चर्चा

जैन स्तवनों में सामान्यतः एक या दूसरे रूप में तीर्थंकर का गुणानुवाद किया जाता था। इसमें तीर्थंकर की स्तुति होने के कारण ये स्तवन भक्तिप्रधान रचना ही हो जाती थी। अध्यात्मयोगी आनंदघन ने अपने स्तवनों में विषय के क्षेत्र में नई दिशा उद्घाटित की और उनके द्वारा खींची गई तात्त्विक चर्चा की यह लीक आगे चलकर राजमार्ग बन गई। इनके स्तवनों में तीर्थंकर के प्रति गिड़गिड़ाहट, विनती या याचना का भाव नहीं है। कवि भावना का कोई सैलाब नहीं बहाते, परन्तु ज्ञान और भक्ति के गौरवपूर्ण सायुज्य से अपना दर्शन चित्रित करते हैं। अध्यात्म की गहन अनुभूतियों के अनुभवरस से भरपूर प्याले को पीनेवाले इस मस्त साधक की आत्मा इस प्रकार योग के रंग में रंग गई है कि उसकी प्रत्येक पंक्ति में गहन ज्ञान और दृढ़ आत्मप्रतीति का अनुभव होता है। इन स्तवनों में कोई रूढ़ भाव प्रतीत नहीं होता। कोई परम्परागत आलेखन दिखाई नहीं देता। अन्य किसी योगी का अनुकरण या अनुरटन मालूम नहीं होता। इसमें तो अपने खुद के अनुभव का हूबहू बयान है जो स्वच्छ झरने की तरह कल-कल-कल बहता जाता है और उसका वारि जिज्ञासु को गहन योगामृत से आस्वादित करता है।

इन स्तवनों की वाणी स्वयंस्फुटित है। कवि को कहीं भी भावचित्रण के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। कहीं भी शब्दों का तोड़-मरोड़ नहीं करना पड़ता। अन्तर से बिल्कुल सीधे निकली हुई वाणी का निर्व्याज सौन्दर्य इन स्तवनों में मिलता है। ज्ञान का विषय होता है वहाँ यह महानद की तरह धीर-गंभीर गति धारण करता है। भक्ति की बात आने पर यह वाणी वहाँ रंगभरे उल्लास से खिलती हुई देखने को मिलती है। कहीं मन के चंचल स्वरूप जब शब्द में सिद्ध किया जाये तो ऐसी स्थिति में वाणी तरल रूप धारण करती है। राजुल नेमिनाथ को उपालंभ देती हो तब उसके हृदय की व्याकुलता और दंश भी आबाद रूप से व्यक्त होते हैं।

आनंदघन की कथनशैली भी उल्लेखनीय हैं। स्वयं जिस विचार का प्रतिपादन करना चाहते हैं उसके विरुद्ध विचारों की बात करनी हो तो बड़े सौजन्य से वे विरोधी विचारों की प्रस्तुति करते हैं। इसमें भी 'किसी' से विरोधी विचारों को पेश करने की उनकी रीति लाक्षणिक है :

“ कोई कंत कारणि काठ भख्यण करे” (1:3)

“ कोई पतिरंजण ने धण तप करे” (1:4)

“ कोई कहे लीला रे ललक अलख तणी” (1:5)

“ कोई अबंध आतमतत माने” (20:2)

कभी-कभी 'एक कहे' के ढंग से भी विरुद्ध विचारों का चित्रण करते हैं:

“एक कहि सेवीई विविध किरिआ करी” (14:2)

“एक कहे नित्य ज आतमतत” (20:4)

प्रत्येक स्तवन का प्रारंभ अलग-अलग रीति से किया है। कहीं स्वयं परमात्मा से प्रश्न पूछकर स्तवन का प्रारंभ किया है तो कहीं परमात्मा से किसी तत्त्व की जानकारी मांगी है। इस तरह प्रत्येक स्तवन के प्रारंभ में नवीनता है, परम्परा से दूर

44 : आनंदघन

रहनेवाले आनंदघन लेखन की परम्परा में जकड़ नहीं गये ।

प्रत्येक स्तवन की प्रथम गाथा में आनंदघनजी ने तीर्थंकर का नाम दिया है, परन्तु तीर्थंकर की महिमा गान से आगे बढ़कर उनके जीवन के किसी प्रसंग का प्रथम इक्कीस स्तवनों में चित्रण नहीं किया । इन इक्कीस स्तवनों में प्रभु स्तवन के निमित्त उन्होंने आत्मदर्शन करने के प्रयास हाथ में लिये हैं । प्रभु का नाम देकर आत्मगुण की पहचान करना उद्देश्य है । इस तरह तीर्थंकर का तो मात्र नाम ही है, जबकि स्तवन का हेतु तो आंतरशानु पर विजय पाना है । इन स्तवनों में आनंदघनजी ने आत्मसाधना की क्रमिक विकासयात्रा का चित्रण किया है और इसीलिए इसमें विषय का सातत्य देखने को मिलता है । एक स्तवन में से दूसरे स्तवन का विचार स्फुटित होता है । साधना की एक सीढ़ी जानने के बाद साधक दूसरी सीढ़ी पर पैर रखता है । अध्यात्म पर अधिक से अधिक भार देकर स्तवन की तात्त्विक चर्चा आगे बढ़ती रहती है । इसमें सूत्रात्मक संक्षिप्त वाक्य मिलते हैं, रुढ़िप्रयोग और कहावतें मिलती हैं । उपमा, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक और श्लेष जैसे अलंकार मिलते हैं । इस तरह स्तवन ज्ञान के भंडार, योग के सोपान और सत्य मार्ग के द्योतक हैं । कहीं-कहीं कवित्व भी झलक उठता है । बाईसवें स्तवन में कविकल्पना की रमणीय लीला राजूल के उपालंभ में व्यक्त हुई है जबकि तेरहवें श्री विमलनाथ जिन के स्तवन में प्रभु प्रतिज्ञा का कैसा मधुर चित्रण किया है ।

“अमी झरी तुज मूरति रची रे, उपमा न घटे कोई,
दृष्टि सुधारस झीलती रे, निरखति तृप्ति न होई.”

आत्मा जब परमात्मा-स्वरूप हो जाती है तब कैसा खुमार उभरता है! इस खुमारी का चित्रण करते हुए आनंदघन गा उठते हैं :

“अहो हूं अहो मुझनें कहूँ, नमो मुझ नमो मुझ रे,
अमित फल दान दातार ने, जेहनें भेट थई तुज्झ रे ।”

आनंदघन का ज्ञान स्वसंवेद्य ज्ञान है । निजानंद में रहने वाला ऐसा मस्त कवि किसी का अनुगामी नहीं होता परन्तु अपने योग, वैराग्य और अध्यात्म से एक नवीन परम्परा का सर्जन करता है । आनंदघन के इन स्तवनों के विषय में आचार्य क्षितिमोहन सेन कहते हैं कि इसमें वे “मानसिक समस्याओं से व्यस्त” दिखते हैं ।¹ यद्यपि आनंदघन ऐसी समस्याओं से व्यस्त नहीं लगते । वे तो इन स्तवनों में अध्यात्म मार्ग में आनेवाली समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं और जैनदर्शन में उनकी श्रद्धा दृढ़ रूप से निहित प्रतीत होती है । उस दर्शन का ही वे चित्रण करते हैं । इसलिए ही योग हो या अध्यात्म, वैराग्य हो या तत्त्वज्ञान प्रत्येक विषय में उनका तत्त्वविचार उच्च कोटि के प्रतीत होते हैं । योगमय अनुभवपूर्ण विचार, नैसर्गिक लाघवयुक्त वाणी और उच्च कोटि के तत्त्वविचारों के कारण आनंदघन के ये स्तवन जैन परम्परा में अलग पहचान बनाते हैं और इस प्रकार के साहित्य में उच्च स्थान पर विराजमान होते हैं ।



टिप्पण

1. स्तुतिर्द्धिधा प्रमाणरूपा, असाधारणगुणोत्कीर्तनरूपा च आवश्यक सूत्रे !
2. नवमी द्वात्रिंशिका, पं. सुखलालजी, प्रकाशक - भारतीय विद्याभवन, बम्बई (ई. स. 1945)
3. 'स्तोत्रावली', प्रधान संपादक : पू. श्री यशोविजयजी महाराज, संपादक - उपोद्घात : लेखक : डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, पृ. 47 से 54 (1975)
4. 'वीणा', ले. आचार्य क्षितिमोहन सेन, संपादक : कालिकाप्रसाद दिक्षित कुसुमाकर, वर्ष 12, अंक 1 (1938), पृ. 3 से 132 तक
 - (क) आनंदघन एक अध्ययन, स्तवन : 4, गाथा : 5
 - (ख) आनंदघन एक अध्ययन, स्तवन : 13, गाथा : 6
 - (ग) आनंदघन एक अध्ययन, स्तवन : 16, गाथा : 3

5

आनंदघन और यशोविजय

आनंदघनजी का समय समर्थ जैन साधुओं की उज्ज्वल ज्ञान परंपरा का युग था। इस काल में जैन साधुओं ने अपने तप, त्याग और वैराग्य की भावना से सर्वत्र सम्मान प्राप्त किया था। मुगल बादशाह भी उनका आदर-सत्कार करते थे। तपागच्छ के आचार्य विजयदेव सूरि को जहाँगीर बादशाह ने 'महातपा' की उपाधि दी। उसके बाद विजयआनंदसूरि, विजयसिंहसूरि और विजयप्रभसूरि ने धर्म की उज्ज्वल परम्परा बनाये रखी थी। सत्यविजयजी पंन्यासश्री ने क्रियोद्धार करके साधुसमाज में व्याप्त शिथिलता को दूर करने का प्रयास किया था। उपाध्याय यशोविजयजी की विद्वत्ता का तेज उस समय समग्र समाज को आलोकित करता था।

इसी समय उपाध्याय मानविजयजी ने "स्तवन चोबीसी" एवं "धर्मसंग्रह" नामक ग्रंथ की रचना की थी। रामविजयजी ने भक्ति और ज्ञान से भरपूर ऐसी मधुर चोबीसी की रचना की थी एवं सात नय पर विस्तारपूर्वक सज्जार्थें लिखी थीं। ज्ञानविमलसूरि ने 'ज्ञानविलास' नाम से पदों की रचना की थी। तदुपरांत, आनंदघनजी ने चोबीसी पर और उपाध्याय यशोविजयजी ने तीन सौ पचास गाथा के स्तवनों पर स्तबक लिखे थे। तपागच्छ के धर्मसागर जी तो निर्भयरूप से शास्त्रानुसार प्रत्येक गलत विचारों का खंडन करने लगे थे। उनकी आलोचनाओं ने तत्कालीन जैन समाज में खलबली मचा दी थी। इसके अलावा उस काल में लावण्यसुंदर ने "द्रव्यसप्ततिका" और सज्जार्थें लिखी थी। दिगम्बर समाज में भी कई समर्थ विद्वान हुए। उसमें बनारसीदास की रचनाओं में तो अनोखा काव्यमाधुर्य और पदलालित्य देखने को मिलता है। "समयसार" नाटक में उन्होंने अनुपम कवित्वशक्ति और वैराग्यभावना दर्शाई है। आनंदघन के पदों में बनारसीदास जैसा लालित्य देखने को मिलता है। व्यापक फलक पर देखें तो रामदास, तुकाराम, तुलसीदास और अर्घा, उन्हें आनंदघन के समकालीन माना जा सकता है।

युगप्रभावक तर्कशिरोमणि उपाध्याय यशोविजयजी उस समय के जैन

विद्वानों में मूर्धन्य स्थान पर विराजित हैं। इस समर्थ विद्वान ने आनंदघनजी को लक्षित कर उनके स्तुतिरूप “अष्टपदी” की रचना की है जिसके बारे में “आनंदघनजी का जीवन” इस प्रकरण में ब्यौरेवार देखा। योगी आनंदघनजी और उपाध्याय यशोविजयजी के मिलन की बातें जैन परंपरा में किंवदंती रूप में मिलती हैं। इस विषयक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। प्रचलित कथा के अनुसार मेड़ता में उपाध्याय यशोविजयजी प्रवचन देते थे और उस समय आनंदघनजी उन्हें सुनने के लिए उपाश्रय में गये थे। उसके बाद उपाध्यायजी की विनती पर आनंदघनजी ने योग पर व्याख्यान दिया था। आनंदघनजी ने अनुभवप्रचुर वाणी का उपाध्याय यशोविजयजी पर प्रबल असर पड़ा था। यह घटना उपाश्रय में घटित होने के कारण श्री मोतीचंदभाई कापड़िया का मानना है कि इन दोनों महापुरुषों का मिलन आबू के पर्वत पर नहीं बल्कि मेड़ता में हुआ था।¹ इस अवसर पर आनंदघनजी की आनंदमय अध्यात्मदशा को देखकर उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी स्तुति के रूप में अष्टपदी की रचना की।

श्री बुद्धिसागरसूरीश्वर उल्लेख करते हैं कि उपाध्याय यशोविजयजी के बारे में आनंदघनजी ने भी इसी प्रकार अष्टापदी लिखी है। यह बात उन्होंने विजापुर के शासक चंद्र सरूपचंद्र से सुनी थी। यद्यपि इस विषयक खोज करने पर उन्हें कोई प्रति नहीं मिली थी।² जबकि श्री मोतीचंदभाई कापड़िया मानते हैं कि ‘पूज्य कभी पूजक नहीं हो सकता’ तथा आनंदघनजी और उपाध्यायजी की उम्र पर विचार करने पर और योग विषय में आनंदघनजी की प्रक्रिया और अध्ययन तथा व्यवहार को लक्ष्य में रखने पर यह हकीकत असंभव मानते हैं। उसी प्रकार आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी ने आनंदघनजी के पास उपाध्याय यशोविजयजी सुवर्णसिद्धि प्राप्त करने गये थे, ऐसी किंवदंती की जानकारी निरूपित की है। परन्तु यह दंतकथा उपाध्याय यशोविजय के भव्य चरित्र से तालमेल नहीं खाती एवं इस विषयक कुछ भी आधार नहीं मिलता। इसी प्रकार ‘सुगुरु तथाविध न मणे रे’ ऐसी आनंदघन की पंक्ति में यशोविजय की आलोचना देखने को मिलती है³। परन्तु, वास्तव में यह तो आनंदघनजी का एक सामान्य कथन है। यह किसी व्यक्तिविशेष को लक्ष्य में रख कर नहीं कहा गया।

अध्यात्मयोगी आनंदघन और उपाध्याय यशोविजयजी के बारे में ‘श्री आनंदघन पद्य रत्नावली’ के निवेदन में श्री साराभाई नवाब ने एक नया मुद्दा उठाया है। वे लिखते हैं :

“परमयोगी श्री आनंदघनजी दूसरा और कोई नहीं, बल्कि न्यायविशारद श्री यशोविजयजी ही हैं, ऐसा मेरा अपना और विद्यमान कई विद्वान जैन मुनिवरों का मानना है। इस मान्यता के समर्थन में जबरदस्त सबूत यह है कि परमयोगी श्री आनंदघनजी का उल्लेख उपाध्यायजी के सिवाय सत्रहवीं सदी का दूसरा कोई विद्वान नहीं करता। तदुपरांत, उपाध्याय जी रचित श्री आनंदघनजी की स्तुति रूप अष्टपदी के जिस पहले पद में ‘मारग चलत चलत गात, आनंदघन प्यारे’ इत्यादि शब्दों तथा उनके द्वारा रचित बत्तीस बत्तीसी में और श्री आनंदघनजी के पदों में

48 : आनंदघन

बहुत साम्यता दिखाई देती है। श्री आनंदघनजी अलग हैं ऐसी मान्यता की अपेक्षा वे और उपाध्याय श्री यशोविजयजी एक ही हैं, इसे ध्यान में रखकर यदि दोनों की कृतियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाये तो मेरे मत को पुष्ट करने वाले प्रमाण मिल जायेंगे। मुझे ऐसा लगता है कि पूज्य उपाध्यायजी महाराज को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपना नाम भी गुप्त रखकर आनंदघन उपनाम धारण करना उचित लगा होगा।”

इस मत की जाँच करें तो सर्वप्रथम तो इसके लिए कोई ठोस सबूत नहीं मिलता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियों की जो सूची मिलती है उसमें उनकी एक कृति के रूप में ‘आनंदघन चौबीसी टबाली पत्र ३४’ ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यदि यशोविजयजी ने स्वयं इस कृति की रचना की होती तो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। श्री ज्ञानविमलसूरि के ‘आनंदघन चौबीसी’ पर लिखे गये टबे (स्तबक) में भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि ‘आनंदघन उपनामधारी लाभानंदजी रचित ये स्तवन’ हैं। इस तरह आनंदघनजी और उपाध्याय यशोविजयजी एक थे ऐसा मानना गलत होगा। इतना ही नहीं, इस मान्यता के अनुसार तो यह मानना पड़ेगा की श्री यशोविजयजी महाराज ने आत्म-प्रशस्ति के लिए ‘अष्टपदी’ लिखी थी। उपाध्याय यशोविजयजी के व्यक्तित्व के साथ यह बात जरा भी सुसंगत प्रतीत नहीं होती। श्री यशोविजयजी ने अपने जीवन की अंतिम अवस्था में अपना नाम छिपाकर ‘आनंदघन’ रखा था, इस प्रकार का तर्क श्री साराभाई नवाब करते हैं, परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी का वि. सं. १७३४ में डभोई के चौमासे में स्वर्गगमन होने के बाद पाटन संघ के अत्यंत आग्रह से श्री कांतिविजयजी महाराज ने ‘सुजसवेली भास’ नामक उपाध्याय यशोविजयजी के जीवन-कार्य को दर्शाने वाली पद्य कृति की रचना की।⁴ उसमें कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है। इससे भी विशेष यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी के ग्रंथों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए आनंदघनजी और यशोविजयजी दोनों एक थे ऐसी श्री साराभाई नवाब की मान्यता निराधार प्रतीत होती है।

मस्तयोगी आनंदघनजी और उपाध्याय यशोविजयजी दोनों समकालीनों के बीच बहुत समानता देखने को मिलती है। दोनों अपनी-अपनी साधना की चरमसीमा पर पहुँचे हुए महापुरुष थे। दोनों समर्थ समकालीन थे। कई बार दो समर्थ समकालीन अपने जीवनकाल में कभी भी एक दूसरे से नहीं मिल पाते। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन थे, एक ही प्रदेश में भ्रमण किया था, इसके बावजूद दोनों का मिलन नहीं हुआ था। परन्तु आनंदघन और यशोविजय के साथ ऐसा नहीं घटित हुआ। इन दोनों महापुरुषों का मिलन हुआ था और वह फलदायी भी साबित हुआ था। आनंदघन की उत्कृष्ट योग अवस्था और आनंदमग्न स्थिति को देखकर उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी स्तुति स्वरूप आनंद के उल्लास से भरपूर “अष्टपदी” की रचना की थी। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि सच्चे ‘आनंद’ की अनुभूति उसे ही हो सकती है जिसके हृदय में आनंद ज्योति प्रकटित हुई हो। ऐसे ‘अचल-अलख’ पदों के ‘सहज सुख’ में आनंदघन मग्न रहते

थे । उनकी ऐसी उन्नत, आनंदमय आध्यात्मिक अवस्था देखकर उपाध्याय यशोविजयजी
“आनंद तोर तोर नहीं पाया,

आनंद आनंद में समाया ।”⁵

ऐसा कहा जाता है कि इन दोनों साधकों को दोषदर्शी और दुष्ट लोगों की तरफ से बहुत परेशानी हुई थी । उनके समय में योगी और ज्ञानी की निंदा करने वाले बहुत से छिद्रान्वेषी लोग थे । आनंदघन तो आत्ममस्ती में मग्न थे । इसलिए उन्होंने ऐसे लोगों की जरा भी परवाह न की । वे शायद ही कहीं इस जड़ता और रुढ़िचुस्तता पर प्रहार करते हैं, जबकि यशोविजयजी साधक और सम्प्रदाय में विश्वास करने वाले थे । वे आनंदघन की तरह संप्रदाय के बंधनों से मुक्त नहीं थे । उनका हृदय ऐसी विपत्तियों से कभी-कभी काँप उठता था । परिणाम स्वरूप वे प्रवर्तित विषम परिस्थितियों विषयक वेदनायुक्त उद्गार निकालते हैं :

“प्रभु मेरे अइसी आय बनी
मन की विथा कुनपे कहिए,
जानो आप धनी;
जनम मरण जरा जीउ गई लहई
विलगी विपत्ति घनी;
तन मन नयन दुःख देखत
सुखी नवी एक कनी ।
चित्त तुं भई दुरजन के बचना
जैसे अर अगनी ।
सज्जन कोउ नहि जाके आगे,
बात कहूँ अपनी ।
चउ गई-गमण-भमण-दुःख वारो,
बिनति एही सुनी,
अविचल संपद जसकुं दीजें
अपने दास भनी ।”

इस प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी निंदक दुर्जनों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करते हैं; उस समय आनंदघनजी की निंदा करनेवाले भी थे । यशोविजयजी द्वारा रचित आनंदघन की अष्टपदी की ‘कोउ आनंदघन छिद्र ही पेखत’ ऐसा आनंदघन के लिए कहा है इस पर से इसका अन्दाज मिलता है । आनंदघनजी और यशोविजयजी दोनों ने जिनस्तवन चौबीसी की रचना की है । आनंदघनजी श्री अजितनाथ जिन स्तवन में कहते हैं :

‘तरक विचारें रे वाद परंपरा, पार न पहुँचे रे कोई,
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे, ते विरलो जगि कोय ।’

(स्तवन : 2, गाथा : 4)

जबकि श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने सत्तरहवें “पापस्थानक की सज्जाय” में शुद्ध भाषक की बलिहारी बताई है । ‘अध्यात्मसार ग्रंथ’ में दंभ पर पूरा प्रकरण

50 : आनंदघन

लिखा है और ऐसे वादविवाद करने वाले के बारे में वे कहते हैं :

“वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितान् तथा ।
तत्त्वांतं नैव गच्छन्ति तीलपीलकघद गतौ ।।”⁶

वाद, विवाद और प्रतिवाद होने पर तेली के कोलू जैसी स्थिति होती है और उसमें तत्वों का पार नहीं मिलता । जड़ता और मतांधता पर इन दोनों महापुरुषों ने तीव्र प्रहार किये हैं । यशोविजयजी ‘यशविलास’ के सैतालिसवें पद में कहते हैं :

“प्रभु गुण ध्यान विग्रह भ्रम भूला;
करे किरिया सो राने रुना ।”

जबकि आनंदघन भी ऐसी जड़ क्रिया का विरोध करते हुए कहते हैं:

“निज सरूप जे करिया साधिइ, ते अध्यात्म लहीइ रे,
जे किरिया करि चोगति साधिइ, ते अनध्यातम कहिये रे ।।”

(स्तवन : 11, गाथा : 3)

ये साधक तो संसार से ऊपर चलते थे । आनंदघनजी ने चार गतिरूप चौसर की सुन्दर कल्पना की हैं । इसमें चेतन ऐसा मान कर चौसर खेलता है कि राग, द्वेष और मोह के पासा स्वयं के लिए हितकर हैं, परन्तु दूसरे की आशा सदा निराशा देती है । आनंदघन तो स्पष्ट कहते हैं कि “आशा औरन की क्या कीजे ? ज्ञान सुधारस पीजे ।।”⁷ इसी प्रकार श्री यशोविजयजी ‘ज्ञानसार’ के बारहवें ‘निःस्पृहाष्टक’ में लिखते हैं:

“अपने स्वभाव-निजगुण की प्राप्ति के अलावा दूसरा कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है उसी तरह आत्म ऐश्वर्य से संपन्न महामुनि बिल्कुल निःस्पृह हो जाते हैं । बेचारे दूसरों की आशा पर निर्भर प्राणी हाथ जोड़-जोड़कर प्रार्थना करते हैं, घर घर भिक्षा मांगते हैं, परन्तु अनंत ज्ञानपात्र प्राणी तो समस्त जगत को तिनके के समान देखता है ।”

आनंदघनजी प्रथम तीर्थंकर ऋषभ जिन स्तवन में प्रीतम ऋषभ जिनेश्वर के साथ प्रीति सगाई हुई होने से उन्हें जगत की सोपाधिक प्रीति पसंद नहीं है । इसी प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी श्री शांतिनाथ जिन स्तवन में यही बात कहते हैं ।

“जाण्यो रे जेणे तुज गुण लेश, बीजो रे रस तेहने मन नवि गमे जी,
चारख्यो रे जेणे अम लवलेश, बाकस बुकस तस न रुचे कीमे जी ।”

(हे प्रभु ! जिसने तुम्हारे गुण को लेशमात्र भी जान लिया है उसे कोई भी दूसरा स्वाद अच्छा नहीं लगता । जिसने अमृत के बूँद का स्वाद चखा है, उसे और किसी बात में रुचि नहीं होती ।)

मात्र वेश धारण कर लेने से कोई साधु नहीं बन सकता । जो सच्चा आत्मज्ञानी है वही सच्चा साधु है । आनंदघनजी श्री वासुपूज्य जिन स्तवन की छठीं गाथा में कहते हैं कि जो आत्मज्ञानी नहीं है वह तो केवल ढोंगी है । बाह्यदृष्टि में सिर मुड़वाने से कोई लाभ नहीं । अन्तर की आत्मा सद्गुणों से समृद्ध होनी चाहिए । इसी प्रकार आनंदघन की तरह यशोविजयजी भी कहते हैं :

“मूंड मुंडावत सब ही गड़रिया, हरिण रोज बन धाम,
जटाधर वट भस्म लगावत, रासभ सहतुं हे धाम ।
एते पर नहि योग की रचना, जो नहि मन विश्राम,
चित अंतर पट छलवेकुं चितवत कहा जपत मुख राम ।
जब लग आवे नहिं मन ठाम ।”

उपाध्याय यशोविजयजी तो आत्मदर्शन का स्वरूप गुरुकृपा से प्राप्त करते हैं । इस बारे में वि. सं. १७३८ के बाद रचित ‘श्रीपाल रास’ के चौथे खंड के अंतिम भाग में

“माहरे तो गुरु चरण पसायें अनुभव दिल में पेटो,
ऋद्धि वृद्धि प्रगटी घटमाहि, आतम-रति हुई बेटो ।”

जब आत्मा में समकित का सूर्य तपता है तब भ्रमरूपी तिमिर भाग जाता है और अंतर में अनुभवगुण का आगमन होता है । इस समय उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं :

‘ध्यायो सही पायो रस, अनुभव जाग्यो जस;
मिट गयो भ्रम को मस, ध्याता ध्येय समायो हे ।
प्रगट भयो प्रकाश, ज्ञान को महा उल्लास;
ऐसो मुनिराज ताज, जस प्रभु छायो हे ।’⁸

ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं तब कैसी अपूर्व आनंदानुभूति होती है । आत्मा में परमात्मा प्रकटित होता है, उस समय की स्थिति को प्रकट करते हुए आनंदघन कह उठते हैं :

“अहो हुं अहो हुं मुझने कहूं

नमो मुझ नमो मुझ रे ।” (स्तवन : 16, गाथा : 13)

(अहो मैं अहो मैं अर्थात् मैं कितना अच्छा हूँ । नमस्कार करो मुझे, नमस्कार करो । (स्तवन १६, गाथा. १३)

उपाध्याय यशोविजयजी ने आनंदघन की तरह पद भी लिखे हैं और उसमें चेतन को ‘मोह को संग’ का निवारण करके ‘ज्ञानसुधारस’ को धारण करने के लिए कहा गया है । इसी तरह ‘कब घर चेतन आवेंगे’ में उपाध्याय यशोविजयजी ने सुमति का विरह चित्रित किया है । आनंदघन के पदों में सुमति के विरह का वेधक आलेखन मिलता है । उसमें कवि कहते हैं कि सुमति दुःखमंदिर के झरोखे से नजरें मिला मिलाकर झुक झुककर देखते हैं । विरह दशारूपी नागिन उसके प्राणवायु को पी जाती है और इससे भी अधिक विरह की विकट वेदना को दर्शाते हुए सुमति कहता है :

“शीतल पंखा कुम कुमा, चंदन कहा लावे हो ?

अनल धिरहानल य हैं तन ताप बढ़ावे हो ।”⁹

शीतल पदार्थ, पंखा, कपूर या चंदन का घोल किसलिए लाते हैं ? यह शरीर की गर्मी नहीं है । यह तो आत्मानंद के विरह की अग्नि है । उसे तो यह पदार्थ शीतलता प्रदान करने की जगह अधिक तपाने वाला है । इस तरह आनंदघन और

52 : आनंदघन

यशोविजय समकालीन थे । परस्पर मिले थे । उनकी भावनाएँ और अध्यात्मप्रवृत्ति बहुत सबल थीं । इसके बावजूद दोनों के आत्मविकास के मार्ग भिन्न थे । आनंदघनजी अध्यात्मयोगी थे तो यशोविजयजी तत्कालीन कतावरण को समझकर अपने लक्ष्य की साधना कर रहे थे ।

आनंदघनजी आत्मलक्ष्मी, संयमी, त्यागी और आध्यात्मिक थे । यशोविजयजी 'न्यायविशारद' और 'न्यायाचार्य' की पदवी से विभूषित हुए पंडित थे । आनंदघनजी "वेद न जानुं किताब न जानुं, जानुं न लच्छन छंदा, तर्क, वाद, विवाद न जानुं, न जानुं कवि फंदा ।"

कहनेवाले मस्तकवि थे, जबकि यशोविजयजी अध्यात्म, योग, कथा आदि विषयों पर संस्कृत, प्राकृत और गुजराती में पद्य रचनाएं करनेवाले विद्वान कवि थे । यशोविजयजी और आनंदघनजी की पद रचनाओं में ज्ञान की गंभीरता, शास्त्रों की पारंगतता और अध्यात्म की गहराई व्यक्त हुई है । वास्तविकता तो यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी को सभी शास्त्रों में महारथ हासिल करने के बाद भी आत्मसंतोष नहीं हुआ । उन्होंने आध्यात्म-योग के मार्ग पर चलना स्वीकार किया और इसमें आनंदघन का सम्पर्क कारणरूप रहा होगा । उपाध्याय यशोविजयजी के 'अध्यात्मसार' जैसे ग्रंथों में और स्तवनों में अध्यात्मरस की झलक देखने को मिलती है । दोनों के कवन को देखें तो आनंदघन के जैसी भाव-गहनता, व्यापकता एवं ऊर्मि की तीव्र उछाल और अलख के रहस्यों को पाने की बेचैनी यशोविजय की कृतिओं में इतने प्रमाण में नहीं दीखती, उसकी वजह यह कही जा सकती है कि आनंदघनजी कवि होने के साथ-साथ मर्मज्ञ संत भी हैं ।

□

टिप्पण

1. 'श्री आनंदघनजीनां पदो' भाग १, ले. मोतीचंद कापड़िया, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, ऑगस्ट क्रांति मार्ग, मुंबई-400036, ई. स. 1982, पृ. 34
2. 'श्री आनंदघन पदसंग्रह भावार्थ', रचयिता : आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी, प्रका. श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडळ, मुंबई, ई. स. 1954, पृ. 138
3. 'जैन काव्यदोहन' भाग १, संग्राहक एवं प्रकाशक श्री मनसुखलाल महेता, अहमदाबाद, ई. स. 1913, पृ. 36
4. 'श्री यशोविजय स्मृति ग्रंथ', संपादक : पू. मुनिप्रवर श्री यशोविजयजी महाराज, प्रका. श्री यशोभारती प्रकाशन समिति, वडोदरा, ई. स. 1957, पृ. 235 थी 239
5. 'श्रीमद् यशोविजयोपाध्याय विरचित गुर्जर साहित्य संग्रह' (प्रथम विभाग), प्रकाशक : शा. बावचंद गोपालजी, मुंबई, पृ. 296

6. 'श्री आनंदघन चोवीशी', विवेचक : श्री मोतीचंद कापड़िया, प्रका. महावीर जैन विद्यालय, ऑगस्ट क्रांति मार्ग, मुंबई-400036, प्रथम आवृत्ति ई. स. 1970, पृ. 47
7. 'श्री आनंदघनजीनां पदो' भा. १, ले. मोतीचंद कापड़िया, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, ऑगस्ट क्रांति मार्ग, मुंबई-400036, ई. स. 1982, पृ. 303
8. 'श्रीमद् यशोविजयोपाध्याय विरचित गूर्जर साहित्य संग्रह' (प्रथम विभाग), प्रकाशक : शा. बावचंद गोपालजी, मुंबई, पृ. 123
9. 'श्री आनंदघनजीनां पदो' भाग १, ले. मोतीचंद कापड़िया, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, ऑगस्ट क्रांति मार्ग, मुंबई-400036, ई. स. 1982, पृ. 438

6

आनंदघन :

कबीर, मीरा और अखा के परिप्रेक्ष्य में

विक्रम की पंद्रहवीं सदी में कबीर ने जाति, ज्ञाति, संप्रदाय, बाह्याचार और धार्मिक मतमतान्तरों से परे होकर साधक की सत्यमय अनुभवबानी बहाकर ज्ञान का नया प्रकाश फैलाया । इसके बाद विक्रम की सत्रहवीं सदी में आनंदघन के पदों में ऐसी भावनाओं की प्रतिध्वनि सुमधुर ढंग से गूँजती हुई सुनाई देती है । कबीर और आनंदघन ये दोनों अपनी सुरता की मस्ती में मस्त रहनेवाले साधक थे । कबीर ने जड़ रुढ़ियों, अंध श्रद्धायुक्त रीतिरिवाजों, परम्परागत कुसंस्कारों और उससे भी विशेष दंभी धर्माचरणों का प्रचंड विरोध किया, विद्रोह किया । आनंदघन में विद्रोह की झलकी है पर उसकी मात्रा संत कबीर जितनी नहीं है । ये दोनों साधक मस्तराम हैं । आध्यात्मिक अनुभव के दृढ़ आधार पर उनकी साधना टिकी हुई है । जगत की ओर दोनों लापरवाह हैं । कबीर या आनंदघन दोनों में से एक भी अज्ञान के अंधकार या रुढ़ियों के बंधनों में जकड़े हुए आदमी को देखकर हमदर्दी नहीं जताते, उनकी बेचैनी ऐसे जीवों के प्रति अनुकम्पा के रूप में प्रकट नहीं होती । वे तो ऐसी मिथ्या बातों पर जबरदस्त प्रहार करते हैं । ऐसे रूढ़ाचारों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने की लगन इन दोनों साधकों में है, इसलिए उसे सह लेने के बदले कबीर व्यंग्य से और आनंदघन उपहास से उसकी भर्त्सना करते हैं ।

आनंदघन के स्तवनों में शास्त्रज्ञान और जैन सिद्धांत विषयक मार्मिक जानकारी का परिचय प्राप्त होता है । लेकिन उनके पदों में वह शास्त्रीय शैली या वह सिद्धांत-निरूपण देखने को नहीं मिलता । यहाँ तो विरही भक्त या अलख का नाद जगानेवाले मर्मज्ञ संत के दर्शन होते हैं । कबीर आत्मा और परमात्मा की प्रणयानुभूति आलेखित करते हैं, तो आनंदघन उनके पदों में सुमति की चेतना के प्रति अकुलाहट व्यक्त करते हैं । कबीर के पदों में आत्मा के वियोग का दर्शन है । उन्होंने प्रेम का प्याला पिया है और उस प्रेम के प्याले ने कैसी स्थिति निर्मित की है ?

“कबीर प्याला प्रेम का अंतर लिया लगाय;
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय ।
सब रग ताँत् रबाब तन, बिरह बजावै नित्त;
और न कोई सुनि सके, के साई के चित्त ।
प्रीति जो लागी धुल गई, पैढ़ि गई मन मांहि;
रोम रोम पिउ-पिउ कहै, मुख की सरघा नाहि ।”¹

इस प्रेम के कारण रोम रोम प्रियतम को पुकारता है । यह वेदना ऐसी है कि अंतर को मथनी मथती है और बाहर उसे कोई समझ नहीं सकता । आनंदघनजी ने भी प्रेम की कथा को ‘अकथ कहानी’ कहा है । इन दोनों साधकों ने माया का वर्णन किया है । कबीर तो माया और छाया (परछाई) को एक समान बताते हैं । भागते हुए आदमी के पीछे माया परछाई की तरह उसके साथ चलती रहती है लेकिन यदि मनुष्य माया से टक्कर ले तो वह भाग जाती है । माया मोहिनी ने अच्छे से अच्छे विद्वानों और सृजनों को मुग्ध किया है और उसने आदमी और भगवान के बीच अंतर उपस्थित किये हैं । इसीलिए सत्यज्ञान प्राप्त करके माया के मोहपाश से मुक्त होनेवालों के लिए कबीर कहते हैं :

“माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि माहिं परंत,
कोई एक गुरुज्ञान ते उबारें साधु संत ।”

(मायारूपी दीपक है और मनुष्य उस भ्रम में धोखा खाकर माया-दीपक में कूद पड़ता है सच्चे गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त करके उससे बच जानेवाले साधु संत तो विरले ही होते हैं ।)

आनंदघन कहते हैं कि “आतमकालिका” जागृत होने से उनकी मति (बुद्धि) आत्मा को मिलने लगी हैं और उन्होंने मायारूपी दासी और उसके परिवार को घेरकर अंकुश में ले लिया है । माया में फँसा चेतन अपनी अवदशा बताता है । यह चेतन प्रकृति से अनावृत होने के बावजूद कर्मावृत हो गया है । उसका प्रकाश अंदर घुट रहा है । अपनी शुद्ध चेतना का उसे खयाल है । वह उसके हृदय में ही स्थित है, फिर भी माया के कारण यह चेतना प्रकट नहीं हो सकती । चेतन संसार के मोह राग में त्रस्त बना है । वह परभाव में रमण करता है । स्थूल इंद्रियसुखों में मौज उड़ाता है । शरीर, धन और यौवन की बहुत बड़ी हानि होती है । दिनों दिन उसकी अपकीर्ति बढ़ती जाती है और शराफत छोड़कर गलत रास्ता अपनाने के कारण उनके आदमी भी उसकी नहीं सुनते । माया के ऐसे भ्रमजाल को चित्रित करते हुए कवि आनंदघन कहते हैं :

“परघर भमतां स्वाद किशो लहे ? तन धन यौवन हाणः
दिन दिन दीसे अपयश वाधतो, निज जन न माने काण ।”²

बालुडी. 3

इसी तरह से कवि आनंदघन एक पद में³ तन, धन और जवानी को क्षणभंगुर कहते हैं और ये प्राण तो पल भर में उड़ जायेंगे, तन जायेगा, फिर धन किस काम का ? अतः जन्म-जन्म तक सुख देनेवाली भलाई करने के लिए कवि कहते हैं ।

56 : आनंदघन

व्यापक चिंतन रखनेवाले यह मस्त कवि मानों जनसमुदाय को स्नेह से जागृत करता हो वैसा कहता है ।

“बेहेर बेहेर नहि आवे, अवसर बेहेर बेहेर नहि आवे;
ज्युं जाणे त्युं कर ले भलाई, जनम जनम सुख पावे,
अवसर.”¹

(बार-बार अवसर नहीं आता भाई, बार बार अवसर नहीं आता इसलिए ज्यों ही पता चले, भलाई कर लीजिए, आप जन्म जन्म तक सुख पाइए ।)

कबीर और आनंदघन दोनों के पदों में हिन्दू और मुसलमान के ऐक्य की बात मिलती है । कबीर राम और रहीम एवं केशव और करीम के बीच कोई भेद नहीं देखते और आनंदघन भी कबीर के उसी धार्मिक औदार्य और परम सत्य को प्राप्त करने के लिए रहस्यवाद को हूबहू चित्रित करते हैं इसमें राम, कृष्ण या महादेव को कोई व्यक्ति नहीं मानते । राम अर्थात् राजा दशरथ का पुत्र नहीं, लेकिन आतमराम में रमण करे वह राम । जीवमात्र पर दया करे वही रहीम । कृष्ण अर्थात् कंस को वध करने वाला नहीं, परन्तु ज्ञान पर पड़े आवरण आदि कर्मों को नष्ट करे वह कृष्ण । शंकर वे नहीं, जो कैलास निवासी है अपितु जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करता है वह महादेव । जो आत्मस्वरूप को स्पर्श करता है, छू लेता है वे पार्श्वनाथ और जो चैतन्य आत्मा की सत्ता को पहचाने वे ब्रह्मा । इस तरह आनंदघन तो कहते हैं कि उन्होंने इसी रीति से परमतत्त्व की उपासना की है और यह परमतत्त्व वह ज्ञाता, दृष्टा और चैतन्यमय है । कबीर के बिल्कुल समकक्ष खड़ी रह सके ऐसी यह आनंदघन की समर्थ बानी है :

राम कहौ रहिमान कहौ कोऊ, कान्ह कहौ महादेव री;
पारसनाथ कहौ कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयेव री । राम. 1
भजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूपरी;
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड सरूप री । राम. 2
निजपद रमै राम सो कहिये, रहम करे रहमान री,
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निर्वाण री । राम. 3
परसै रूप सौ पारस कहिये, ब्रह्म चिन्है सौ ब्रह्म री,
इह विध साध्यो आप आनंदघन, चैतनमय निःकर्म री । राम. 4²

रहस्यवाद में परमात्मा की जो विरल अनुभूति होती है, उस अनुभूति में समय, अहमत्त्व और ममत्व की भावना का लोप होता है, उस समय ध्याता और ध्येय दोनों मिलकर एक हो जाते हैं । इस अपूर्व अद्वैत की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द समर्थ नहीं है, लेकिन संत हृदय में उसकी अभिव्यक्ति की व्याकुलता इतनी बढ़ जाती है कि उस परम तत्त्व की अनुभूति वाणी में खुद-ब-खुद उतर आती है । उस अगोचर और अगम्य तत्त्व को शब्दों में उतारने का प्रयास होता है । परमतत्त्व की यह अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण होती है, जब अनुभवकर्ता और अनुभूत चीज एक रूप बनते हैं, तब सर्वत्र अखण्ड स्वरूप के दर्शन होते हैं । कबीर इस मधुर अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहते हैं :

“लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल;
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।”

जबकि आनंदघन कहते हैं कि प्रियतम से मिलन आत्मा और परमात्मा के साथ का ऐक्य, फूल के चारों तरफ चक्कर लगाते भौरों जैसा नहीं है, बल्कि पुष्प में निहित पराग जैसा है। और जब यह मिलन होता है तब कबीर को ‘तेरा सांई तुझमें’ का अनुभव होता है। तो आनंदघन के अंतर में ‘अनुभवरस की लाली’ प्रकट होती है। कवि आनंदघन मनोरम रूपक के द्वारा इस अनुभवलीला का निरूपण करते हुए कहते हैं:

“मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली;

तन भाठी अवटाई पीये कस, जागे अनुभव लाली।” आशा. 3

कबीर की तरह आनंदघन ने भी ‘अवधू’ और ‘साधू’ को सम्बोधित करके अपना उपदेश दिया है। इस तरह से आनंदघन ने कबीर की तरह या रहस्यवादी कवियों की तरह प्रणय की परिभाषा में आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध प्रकट किया है। इसी तरह ‘राम कहो रहिमान कहो’ में आनंदघन रहस्यवादी कवि की तरह चैतन्यमय परमतत्त्व के रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। कबीर इस शरीर की क्षणभंगुरता बताते हैं। वे देह को कच्चे कुंभ की तरह बताते हैं और मनुष्य उस कच्ची देह और चंचल मन के सहारे सब चिरकाल स्थिर रहनेवाला है ऐसा मानकर गर्व से सीना फुलाकर फिर रहा है। वह माया के मोह में मस्त है। लेकिन कबीर कहते हैं कि उसे ऐसे घूमता-फिरता देखकर महाकाल हँसता रहता है और फिर उसकी हालत कैसी होती है ?

“हम जानें थें खायेंगे बहुत जर्मीं बहु माल,
ज्यों का त्यों हि रह गया पकरि लै गया काल।”

(हम तो यह मानते थे कि बहुत जमीन-जागीर है, बेशुमार दौलत है, निश्चित होकर, बुढ़ापे में उसका उपभोग करेंगे। परन्तु हुआ क्या ? काल झपट्टा मार कर उड़ गया और सब कुछ ज्यों का त्यों धरा रह गया!) गुजरते हुए काल के सामने कबीर की तरह ही आनंदघन एक सुंदर कल्पना से मनुष्य को जगाते हैं :

“क्या सोवै उठ जाग बाउरै

अंजलि जल ज्यू आयु घटत हैं,

देत पहरिया धरिये धाउ रे।

छंद-चंद नागिंद मुनि चले, को राजा पति साह राउ रे।”

कबीर और आनंदघन दोनों ने जड़-बाह्याचार का विरोध किया उसी तरह वे दोनों पुस्तकीय ज्ञान से प्रभु प्राप्ति के मार्ग के चाहनेवालों का विरोध करते हैं। शास्त्रज्ञान वह एक दीपक है जब कि आत्मज्ञान तो रत्न है। दीपक के प्रकाश से रत्न की खोज कर सकते हैं, लेकिन दीपक ही रत्न है ऐसा माना नहीं जा सकता। शास्त्रीय ज्ञान से आगे बढ़कर साधक को आत्मज्ञान पाना है। इसीलिए कबीर और आनंदघन कोरे और अनुभवरहित शास्त्रज्ञान की आलोचना करते हैं, ऐसा ही पंडितों के ज्ञान के विषय में भी है। ध्यान से विमुख ऐसे ज्ञानी की हालत का बयान करते हुए

58 : आनंदघन

कबीर कहते हैं :

“ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रह्यो निज रूप,
बाहर खोजें बापु रे भीतर बस्तु अनूप ।”

(ज्ञानी बिचारा ज्ञान की बातों के भँवर में भटक गया था । अपना सच्चा-असली स्वरूप अपने ही पास था । जो अनुपम चीज उसके भीतर थी उसकी तलाश में बेचारा कस्तूरीमृग की तरह बाहर भटक रहा था ।)

संत कबीर की तरह आनंदघन भी शास्त्र के बदले अनुभव के रसरंग में लीन हैं ।

आनंदघन ‘अवधू क्या मांगू गुणहीना’ पद में कहते हैं कि मैं वेद नहीं जानता, किताब नहीं जानता, विवाद करने के लिए मैं तर्क नहीं जानता, कविता के लिए छंद रचना भी नहीं जानता । आपका जाप नहीं जानता । “बस मैं सिर्फ तेरे द्वार पर खड़ा रहकर तेरा नाम जपना जानता हूँ ।”

मध्यकालीन रहस्यवादी कवियों में ‘अवधू’ ‘निरंजन’ और ‘सोहं’ जैसे शब्दों के प्रयोग देख सकते हैं । संत कबीर की बानी में तो ‘अवधू’ शब्द बारबार दीखता है, आनंदघन के पदों में भी ‘अवधू’ शब्द का प्रयोग मिलता है । इस ‘अवधू’ शब्द का प्रयोग आनंदघनजी ने अपने पदों में साधु या संत के अर्थ में किया है । वे कहते हैं :

“साधो भाई ! समता रंग रमीजै, अवधू ममता संग न कीजै ।”

इसी तरह से आनंदघन निरंजन शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में करते हैं । जो समस्त व्यर्थ आशाओं का हनन करके ध्यान के द्वारा अज्ञा जप की रट लगाता है, वही आनंद के घन को, निरंजन को पा सकता है । यह निरंजन सकल भय को हरनेवाला है, कामधेनु है और इसीलिए अन्यत्र भटकने के बदले निरंजन के शरण में जाना उसे ज्यादा पसंद है ।

“अब मेरे पति गति देव निरंजन

भटकूँ कहाँ, कहाँ सिर पटकूँ कहाँ करूँ जन रंजन

खंजन दृगन लगाऊँ, चाहूँ न चितवन अंजन

संजन-घट अंतर परमात्म सकल-दुरति भय भंजन

एह काम एह काम घट एही सुधारस मंजन

आनंदघन प्रभु घट बन केहरि काम मतंग गज गंजन ।”

आनंदघनजी के पदों में हठयोग की साधना का प्रभाव देखने को मिलता है । ‘अवधू’ के संबोधन से उनके अनेक पदों में इसी साधना की बात की है । ‘आत्मानुभव’ और ‘देहदेवल मठवासी’ की बात भी आनंदघन की कुछ साखियों में मिलती है । आनंदघन कहते हैं कि इड़ा-पिंगला के मार्ग का परित्याग करके ‘सुषुम्ना घरवासी’ होना पड़ता है । ब्रह्मरंध्र के मध्य में ‘श्वास पूर्ण’ होने के बाद नाद सुनाई देता है और साधक ब्रह्मानुभूति का साक्षात्कार करने की स्थिति को प्राप्त होता है । डॉ. वासुदेवसिंह³ तो ऐसी संभावना व्यक्त करते हैं कि कबीर का कोई शिष्य या अनुयायी भी साधना की उस उच्च सीढ़ी और काव्य की उस उच्च कक्षा तक पहुँचा

नहीं है, जहाँ संत आनंदघन और उनके काव्य पहुँच सके हैं ।

कबीर की तरह आनंदघन भी 'अगम पियाला' की मस्ती आलेखित करते हुए कहते हैं :

“अगम पियाला पियो मतवाला, चीन्ने अध्यात्म वासा,
आनंदघन चेतन है खेले, देखे लोक तमासा । आशा ।”⁵

कवि आनंदघन अध्यात्ममत में लीन लोगों को अगम प्याला पीने के लिए आमंत्रण देते हैं और उसके लिए अध्यात्म का निवास कहाँ है यह ढूँढने के लिए कहते हैं और जब अगम प्याला पीने का आनंद प्राप्त होता है, तब संसार-प्रपंच प्रत्यक्ष दीखता है । इस तरह से दोनों ने 'विरला अलख जगावे' का बोध दिया है; लेकिन दोनों की शैली भिन्न है ।

कबीर के पदों में उपदेशों का निरूपण है तो आनंदघन के पदों में सिद्धांत है । कबीर के पद मानवचित्त को बाह्य सरोकारों से मुक्त करके अन्तर्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं जबकि आनंदघन का उपदेश व्यक्ति को योग और अध्यात्म की गहराई का अनुभव कराता है । कबीर में व्यावहारिक दृष्टि है और उसमें से मिलते दृष्टान्तों की अधिकता है, जबकि आनंदघन में योगदृष्टि है । कबीर के पद आम आदमी को छू लेते हैं, जबकि आनंदघन के पद योग और तत्त्वज्ञान से भरपूर होने के कारण उन्हें समझने के लिए विशेष सज्जता की आवश्यकता होती है ।

कबीर के पदों में आम जनता के हित को लक्ष्य में रखा गया है, जबकि आनंदघन के पदों में व्यक्ति को भक्ति के लिबास में आत्मा की गहराई में ले जाने का प्रयास है । कबीर के पदों में कहीं भी गुजराती भाषा का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता जबकि आनंदघन के पद राजस्थानी भाषा में होने के बावजूद उनमें गुजराती भाषा का प्रभाव लक्षित होता है । उपदेशक का आवेश उनमें दिखाई देता है । जबकि आनंदघन की शैली आत्मज्ञान की पत-दर-पत को खोलकर दिखानेवाली है । कबीर में सत्यार्थी सन्त का उत्कट अभिनिवेश देखने को मिलता है, जबकि आनंदघन में सत्यार्थी बैरागी आत्मा की उत्कट अनुभूति दृष्टिगत होती है । कबीर को समझने के लिए रहस्यवादियों की परंपरा को जानना आवश्यक है, जबकि आनंदघन की थाह पाने के लिए रहस्यवादियों की परंपरा के अतिरिक्त जैन परिभाषा जानने की अपेक्षा रहती है ।

इस तरह से कबीर और आनंदघन के पदों में उनका व्यक्तित्व प्रकट होता है । दोनों का हृदय कवि का, मन योगी का और मिज़ाज बादशाह का था । उनके पदों में मस्ती की झलक है । कानों में निरंतर गूँजनेवाला श्रुतिपदुत्व है । पदों का उन्नत और आलौकिक भाव, चोटदार रूपक, गहनमधुर भाषा और गहरा रहस्यगर्भित चिंतन काव्यरसिकों को आनंद में तल्लीन कर देता है । आनंदघन के पदों की संख्या कबीर जितनी नहीं है । कबीर जैसा आवेशपूर्ण बयान उसमें नहीं है । उसमें व्यावहारिक जीवन की नकद कल्पना नहीं है, इसके बावजूद आनंदघन के पद अपनी संख्या के अनुपात में ऊँची गुणवत्ता रखते हैं । उसमें विकसित कमल जैसा आत्मज्ञान, भावों का लालित्यपूर्ण आलेखन रहस्यगर्भित अनुभूति का वेधक

निरूपण, संकुचितता के स्थान पर व्यापक भावनाओं की उज्ज्वलता - इन सबको देखते हुए इन पदों में अनुभवार्थी बैरागी कवि आनंदघन की सर्वोच्च अवस्था का प्रकटीकरण हुआ है। कवि ने 'अनुभवलाली' के आत्मसाक्षात्कार से 'अगम पियालो' पिया है और परमतत्त्व में लीन होकर अमरत्व के अनुभव की मस्ती का आनंद लिया है, और उसे गाया भी है।

मीरां और आनंदघन

मीरां और आनंदघन के पद साहित्य में प्रभु-मिलन की तीव्र छटपटाहट और उच्च आध्यात्मिक जीवन के संस्कार प्रकटित होते हैं। मीरां की कृष्णभक्ति का जन्म जीवन की किसी आघातजनक घटना से यकायक नहीं हुआ है, उसी तरह आनंदघन की वैराग्यवृत्ति का प्रादुर्भाव भी किसी सांसारिक घटना की चोट से नहीं हुआ है। इन संतों के जन्मजात संस्कारों में ही वैराग्य के बीज पड़े हुए होते हैं, जिनका समय के साथ-साथ विकास होता है।

मीरां और आनंदघन के संदर्भ में एक साम्य लक्षित होता है। मेड़ता की भूमि पर मीरां का जन्म हुआ और लगभग सवा सौ साल के बाद उसी भूमि पर आनंदघन ने भ्रमण किया होगा। जिस स्थान पर मीरां की प्रेमलक्षणा भक्ति का सोता स्वयंभू फूटा, वही भूमि आनंदघन की कर्मभूमि बनी।

इन दोनों संतों के पद स्वयं स्फुटित हैं। कहीं भी ये सायास नहीं प्रतीत होते। मीरां ने भक्ति और आनंदघन ने योग के रहस्य को आत्मसात् किया है। और उसके बाद दोनों ने मन के गूढतम भावों को प्रेरणादायी उत्साह से भाववाही वाणी में अभिव्यक्त किया है या यूँ कहें कि वे अभिव्यक्त हो गये हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा।

मीरां के लिए जिस तरह कृष्णभक्ति स्वाभाविक थी, उसी तरह से आनंदघनजी के लिए योग; वह किसी चर्चा या अध्ययन का नहीं, बल्कि अनुभव में रचा बसा विषय था। इसीलिए वे योग और आध्यात्मिक तत्त्वों को रसिक और उत्कट वाणी में अपनी कविता में निरूपित कर पाये। मीरां की तरह आनंदघन के पदों में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की वेधकता प्रतीत होती है। विरहिणी मीरां ने पियामिलन के लिए तड़पते, अकुलाते, छटपटाते हुए वियोग के आँसू बहाये हैं। मीरां का विरहगान मीरां का ही है, उसका कोई सानी नहीं है। मीरां के पदों में प्रेमाकुल विरहिणी की वेदनापूर्ण चीख है। प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण कर चुकी नारी की भाँति कृष्णविरह की वेदना को व्यक्त करती हैं।

“मैं विरहिणी बैठी जागुं, जगत सब सोवे री आली....”

विरह की इस पीड़ा को आनंदघनजी ने भी इतनी ही तीव्रता और उत्कटता से व्यक्त किया है। मीरां जहाँ 'गिरधर नागर' के लिए तरसती हैं, वहीं आनंदघन अपने 'मनमेलु' का इन्तजार करते हुए सोचते हैं :

“मुने मारो कब मिलशे मनमेलु,

मनमेलु विण केलि न कलीए, वाले कवल कोई वेलुं”⁶

मन के मिलाप के बिना का खेल किसी मूर्ख के द्वारा रेत के निवाले बनाने

जैसा है। आनंदघन तो कहते हैं कि जो मनुष्य इस मिलाप के साथ अंतर बनाये रखता है, वह इन्सान नहीं, पत्थर है। 'मनमेलु' से मिलने की छटपटाहट इतनी अधिक है कि मीरा ने जैसे लोकलाज छोड़ दी थी, उसी तरह आनंदघन भी पति को पाने के लिए बड़े-बूढ़ों की मर्यादा छोड़कर दरवाजे पर खड़े-खड़े उसकी राह देखते हैं उसके बिना तड़पते हैं, बिलखते हैं। आँखें उसी राह पर बिछी रहती हैं, जिस पर से पति आनेवाले हैं। शरीर के वस्त्राभूषण उन्हें जरा भी नहीं सुहाते। कीमती आभूषण जहर जैसे लगते हैं। अंतर की इस तपन को कोई वैद्य मिटा सके ऐसा नहीं है। एक श्वासोच्छ्वास की अवधि जितना भी सास मेरा विश्वास नहीं करती और निर्लज्ज तृष्णा-ननद सुबह से लड़ती-झगड़ती रहती है तन की इस वेदना को तो तभी शांति मिलेगी जब आनंदघन की अमृतवर्षा हो।

“सास विसास उसास न राखें ननदी नी
गोरी भोरी लरीरी
और तबीब न उपति बुझावे

आनंदघन पीयुब झरीरी।”⁷

पहले दूसरों की विरह वेदना का वह उपहास करती थी, लेकिन जब खुद विरह वेदना के बाणों से घायल हुई तो जाना कि इसकी पीड़ा कितनी मर्यान्तक होती है। पूरे शरीर में शूल की सी चुभन होती है। मन तो इस विरह से लगातार मचलता रहता है। इस विदारक अनुभव के बाद ही मैं सभी को कहती हूँ कि कोई प्रीत न करना।

“हंसती तब हूँ विरानिया, देखी तन मन छीज्यो हो;
समजी तब एती कही, कोई नेह न कीज्यो हो।”

मीरा के जैसी भाव-दीप्ति और व्यथा की चोट आनंदघन के इन पदों में दिखाई देती है। होली तो फाल्गुन महीने में आती है पर कवि आनंदघन कहते हैं कि यहाँ तो निसदिन अन्तर्मन में वेदना की होली जलती रहती है और वह इस शरीर को राख बनाकर उड़ा देती है। इस तीव्रतम वेदना को निरूपित करने के लिए कवि आनंदघन ने इन निम्नलिखित पंक्तियों में कैसी सुन्दर कल्पना के द्वारा विरह को मूर्तिमंत रूप दे दिया है ?

“फागुण आचर एक निसा, होरी सीरगानी हो;
मेरे मन सब दिन जरै, तन खाख उड़ानी हो।”⁸

यह विरह सुमति का विरह है। अपने चेतनजी के लिए वह तरसती है। सुमति अपने अनुभव मित्र को अपनी यह विरह वेदना बताती है। चातक जिस तरह पीउ-पीउ रटता है वैसे ही वह पति का रटन लगाये रहती है। उसका जीव पति के प्रेम रस पीने का प्यासा है। मन और तन दोनों ही पति के इन्तज़ार में अस्वस्थ हो गये हैं और उस वियोगावस्था को आनंदघन अनुपम कल्पना लीला के द्वारा आलेखित करते हुए कहते हैं :

“निस अंधियारी मोंही हसे रे, तारे दाँत दिखाई,
भादु कादु में कियो प्यारे, असुवन धार बहाई।”

62 : आनंदघन

अंधेरी रात, सितारों रूपी दाँतों को चमकाते हुए वह मेरे सामने हँस रहा है । रात को नींद कहाँ से आयेगी । यह वियोगिनी तो आँसू बहा रही है और इतने आँसू बहाये कि भादों का महिना कीचड़मय हो गया है । मीरां ने 'विरह की फांसड़िया' की बात कही है, तो आनंदघन भी सुमति की विरह-व्यथा को आलेखित करते हुए कहते हैं :

“विरह व्यथा कछु ऐसी व्यापती, मानुं कोई मारती बेजा,
अंतक अंत कटालुं लेगो प्यारे; माहे जीव तुं ले जा ।”

विरह की पीड़ा इस तरह से छा जाती है कि मानों हृदय को तीक्ष्ण बाणों से वेध रहा हो । अरे ओ विरह, तुम कब तक ऐसी पीड़ा दोगे ? यदि तुम्हारी यही मरजी है, तो मेरी जान ही ले लो । वियोग व्यथा की छटपटाहट को कवि ने किस खूबी से शब्दों में चित्रित किया है ! आनंदघन के पद पढ़ते ही 'दरद दिवानी' मीरां की याद मन में अंकित हो जाती है ।

संसार के तुच्छ सुख को त्याग देने के लिए मीरां और आनंदघन दोनों ही कहते हैं । मीरां ने संसार सुख को 'झांझवाना नीर' (मृगतृष्णा) के समान तुच्छ और 'परणी ने रंडावुं पाखुं' (विवाह करके विधवा होना) होने के कारण कच्चा सुख माना है । संसार के ऐसे कई कटु अनुभव मीरां को अपने जीवन में हुए हैं । संसार का कच्चा रंग तो उड़ ही जानेवाला है । कवि आनंदघन भी ममता की संगत में डूबे मनुष्य को जागने के लिए कहते हैं । शुद्ध चेतना अपने पति चेतन को संसार की मोहमाया से जगाने के लिए अनुभवमित्र को विनती करती है । जो मनुष्य संसार की मोह माया में फँसा हुआ है, आनंदघन के अनुसार वह अजागल स्तन से दूध प्राप्ति की आशा में व्यर्थ परेशान हो रहा है ।

“अनुभव नाथकुं क्युं न जगावे,

ममता संग सो पाय अजागल, थन तें दूध कहावे ।”⁹

संसार के स्वप्नवत् सुख में लीन मनुष्यों को आनंदघन हीरा को छोड़कर मायारूपी कंकर पर मोहित होने वाले मानते हैं । उनकी दशा बहुत खराब होती है । जिस तरह नरपशु यकायक आक्रमण करके बकरी को मार डालता है, उसी तरह से ऐसे मनुष्यों को काल खा जाता है । कवि कहते हैं :

“सुपन को साच करी माचत
राहत छाह गमन बदरी री
आई अचानक काल तोपची
गहेग ज्युं नाहर बकरी री ।”

'सांसारिक सुख' को त्यागने वाली मीरां को कैसी-कैसी सांसारिक विपत्तियों को झेलना पड़ा था । ससुराल और नैहर छोड़कर उसने काशी, वृंदावन की राह ली और अंततः द्वारिका में निवास किया । जगत और भक्त के बीच सनातन द्वंद्व होता चला आया है । इसलिए मीरां कहती हैं कि जिसके घर अतिथि के रूप में संत का आगमन नहीं होता उसके घर किसलिए जाना ? अपनी सांसारिक स्थिति को व्यक्त करते हुए मीरां गा उठती हैं :

“सासरो अमारो अग्नि नो भड़को, सासु सदानी शूणी रे,
एनी प्रत्ये मारुं काई न चाले रे एने आंगणिये नाखुं, पूणी रे”¹⁰

(मेरा ससुर आग की ज्वाला है और सास हमेशा से ही कुत्ती है उनके आगे मेरा कोई वश नहीं चलता । मैं हमेशा अपनी अंगुली छोटी करके ही रखती हूँ अर्थात् मैं हमेशा अतिसीमित दायरे में ही रहती हूँ ।)

सास, ससुर जेठानी, देवरानी, ननद और पड़ोसन सभी मीरां को परेशान करते हैं । परन्तु मीरां तो इन सबकी परवाह किये बिना अपनी ही मस्ती में आँगन में ‘थै थै’ नाचती हैं । कवि आनंदघन भी सांसारिक सम्बन्धों को इसी तरह आलेखित करते हैं । वे कहते हैं कि चेतन जो की नारी के मोह में अंधा हो गया है, उसके क्रोध और मान (घमण्ड) नाम के दो बेटे हैं जिनको लोग थप्पड़ मारते हैं । उसका लोभ नामक दामाद हैं और माया नाम की बेटी हैं, और इस तरह उसका यह परिवार बढ़ता ही जाता है :

“क्रोध, मान बेटा भये हो, देत चपेटा लोक;
लोभ जमाई माया सुता हो, एह वढ्यो परि मोह ।”¹¹

इसी तरह कवि आनंदघन कहते हैं कि माता-पिता रिश्तेदार या परिजन की बात तो बिलकुल बेकार लगती है । जिसने एक बार सत्संग के रस का आस्वादन कर लिया है, उसे फिर कोई रस नहीं भाता । संसार के रिश्तेदार इस रस को समझ नहीं पाते । इसीलिए उसकी निंदा करते हैं । कवि कहते हैं :

मात तात सज्जन जात वात करत है मोरी
चाखे रस की क्युं करी छूटे ? सुरिजन सुरिजन टोरी हो ।
इससे भी अधिक मस्ती में झूमकर आनंदघन कह उठते हैं :

“भ्रात न मात न तात न गात न जात न वात न लागत मोरी,
मेरे सब दिन दरसन फरसन, तान सुधारस पान पगोरी ।”

“मेरा कोई भाई नहीं, माता नहीं, पिता नहीं, रिश्तेदार नहीं हैं । उनकी बात मुझे नहीं सुहाती । मेरे लिए तो हर रोज उसी का दर्शन, उसी की तान उसी की पूजा, उसी की पूजा ।”

ऐसे सांसारिक संबंध छूट जाते हैं, माया की ममता टूट जाती है, तब मीरां के विष का प्याला अमृत बन जाता है । आनंदघन की मस्ती निरामय आनंद में लीन हो जाती है । मीरां कहती है ‘प्रेम पियालो में पीधो रे,’ जबकि आनंदघन कहते हैं :

“ज्ञानसिंधु मथित पाई, प्रेम पीयूष कटोरी हो;
मोहत आनंदघन प्रभु शीशधर देखत दृष्टि चकोरी ।”¹²

मीरां को ‘राम रतन धन’ की प्राप्ति होने पर आनंद की कोई सीमा नहीं रहती; जबकि आनंदघन ‘श्री विमलनाथ जिन स्तवन’ में ‘धींग धणी माथे किया रे’ कहकर अपने तमाम दुःख और दुर्भाग्य से छुटकारा पाने का आनंद प्रकट करते हैं और कैसा है इन संतों का प्रभुप्रेम !

मीरां कहती हैं :

“मेरे तो प्रभु गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई रे”

तो आनंदघन के ‘ऋषभ जिन स्तवन’ में वही प्रभुप्रीति की प्रतिध्वनि गूँज उठती हैं :

“ऋषभ जिणोसर प्रीतम माहरा, और न चाहूँ रे कंत ।”

‘मुखडानी माया’ लगने के बाद ‘प्रीत पूरवनी’ जगती है, फिर तो वह प्रियतम जैसे रखे वैसे ही रहना है । मीरां कहती हैं कि ‘राम राखे तेम रहिए’ क्योंकि वह तो उसकी ‘चिड्डी नी चाकर’ हैं । मीरां आर्जवभरे स्वर में कहती हैं उसे तो यह चाकरी ही प्रिय हैं और इस चाकरी में उसे भगवान का स्मरण ही इच्छित है । निर्वाह-खर्च में वह साँवलिया के दर्शन ही माँगती है और इसके अलावा गिरधारी की कुछ अधिक (उत्कट) भक्ति चाहती हैं । तभी वह कहती हैं कि ‘हरि मने पार उतार ।’ उसके लिए ‘हुं तने नमी नमी ने विनंती (मैं तुम्हे झुक-झुककर बिनती) करती हूँ ।’

मीरां भक्त थीं तो आनंदघन मर्मज्ञ संत थे । वे कहते हैं कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता, केवल तेरे द्वार पर आकर तेरे गुणों का रटन ही करता हूँ । इस तरह मीरां की भक्ति में मृदुता प्रकट होती है, तो आनंदघन में मस्ती की लहर का अनुभव होता है । वे कहते हैं —

“अवधू क्या माँगू गुन हीना, जे गुनगुनन पुवीना,
गाय न जानुं बजाय न जानुं, न जानुं सुर मेवा ।”

मीरां के पदों में जिस तरह अखंड वर की प्राप्ति का आनंद है, उसी तरह से आनंदघन में स्वयं सुहागन बनने की उमंग दृष्टिगत होती है । मीरां जैसे ‘प्रेम नी कटारी’ (प्रेम की कटारी) से घायल हुई है, वैसे ही आनंदघन प्रेम के रामबाण से बिंधे हुए हैं ।

“कहाँ दिखाउं और कूँ कहाँ समजाउं भोर,
तीर अचूक हैं प्रेम का लागे सो रहे ठोर ।”

कवि कहता है कि प्रेम के इस बाण का घाव मैं दूसरे को कैसे दिखाऊँ वैसे भी अन्य कोई उसका स्वरूप कैसे समझ पाएगा ? मीरां की तरह वे भी ‘घायल की गत घायल जाने’ कहते हैं । उससे भी अधिक आनंदघन कहते हैं कि यह प्रेम का तीर ऐसा अचूक है कि एक बार चुभ जाये, तो निकलता नहीं है । और यह ‘प्रेम सुहागन’ नारी अपने प्रियतम के अंगों की सेवा करती है, तब सुंदर रूपक लीला से आनंदघन कहते हैं कि उसके हाथों से भक्ति के रंग की मेंहदी उग निकलती है, अत्यन्त सुखदायक भावरूप अंजन लगा देती है, सहज स्वभाव स्वरूप चूड़ी पहनती है, स्थिरतारुपी कंगन धारण करती है, ध्यान उसको अपनी गोद में बिठाता है, सूरत का सिंदूर उसकी मांग में भरा जाता है, अनासक्ति रूपी जूड़ा बाँधा जाता है, ज्योति का प्रकाश उसके अंतरात्मा के त्रिभुवन में प्रकट होता है और केवलज्ञानरूपी दर्पण हाथ में लेता है । इस पद में कवि ने ‘अनुभवरस’ से सौभाग्यवती बनी हुई नारी की आनंदसज्जा को रूपक के द्वारा मनोरम ढंग से सजाया है । और अन्ततः दृश्य की उस आनंदमय अवस्था को आलेखित करते हुए कवि कहते हैं :

“उपजी धुनी अजपा की अनहद, जित नगारे वारी;

झड़ी सदा आनंदघन बरखत वनमोर एक तारी।”

शुद्ध चेतना के मंदिर में चेतन आता है, अवर्णनीय मिलन होता है और आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। इस समय यह विचार उठता है कि इसमें कर्ता कौन है ? यह करनी किसकी है ? और फिर इसका हिसाब कौन मांगेगा ? कवि आनंदघन कहते हैं :

“साधुभाई ! अपना रूप देखा, साधुभाई ! अपना रूप देखा,
करता कौन कौन कुनी करनी ? कौन मांगेगा लेखा ?”¹³

ऐसे समय में दिन किस तरह आनंद से बीते इसका वर्णन सुमति के मुख से करवाते हुए आनंदघन कहते हैं कि हे चेतन। तेरे मीठे बोल पर मैं बलिहारी जाऊँ। तेरे बिना मुझे अन्य सभी बुरे लगते हैं। अब तो मैं तेरे बिना रह नहीं पाऊँगी। सुमति कहती है :

“मेरे जीयकुं कल न परत है, बिनुं तेरे मुख दीठडे;
प्रेम पीयाला पीवत पीवत, लालन ! सब दिन नीठडे।”

इस समय सोहं-सोहं की ध्वनि गूँजने लगती हैं। कवि आनंदघन को तो इसके अलावा दूसरा कुछ सोचना पसंद ही नहीं :

“चेतन ! ऐसा ज्ञान विचारो,
सोहं सोहं सोहं सोहं, सोहं अणु न बीया सारो।”¹⁴

अंतर के दरवाजे पर विजय का डंका बजने लगता है। आनंद राशिरूप वर्षा मूसलाधार बरसने लगती है और वन के मोर उसके साथ एकाकार हो जाएँ ऐसी एकरूपता सुमति और चेतन के बीच स्थापित होती है।

मीरां और आनंदघन के पदों में निरूपण का लालित्य है, परन्तु दोनों के वर्णन-विषय बिलकुल अलग हैं। मीरां प्रणय की निर्व्याज अनुभूति को सहजता से निरूपित करती हैं, जबकि आनंदघन में यह प्रणय सुमति और चेतन के आत्मपिपासु प्रणय के परिवेश में लिपटा हुआ है। मीरां कहती हैं कि उसने तो ‘प्रेम आंसु डार डार अमर वेल बोई।’ इस प्रकार मीरां द्वारा चित्रित प्रणय में वे स्वयं पात्र के रूप में आती हैं। जबकि आनंदघन में तो कवि प्रणय-आलेखन में भी अध्यात्मभाव को अभिव्यक्त करने वाले रूपकों को आलेखित करते हैं। मीरां के पदों में आनेवाले पात्र, स्थूल जगत के पात्र हैं, जबकि आनंदघन के पात्र किसी आत्मानुभव के प्रतीक रूप में आलेखित रूपक हैं। चेतन पति, सुमति पत्नी, कुमति शोक्य (सौत), ज्ञान (अनुभव) और विवेक वह सुमति के भाई तथा चेतन के मित्र हैं।

प्रेम विरहिणी मीरां के पद आत्मलक्षित अधिक प्रतीत होते हैं, जबकि ज्ञानी आनंदघन के पद अपेक्षाकृत अधिक परलक्षी हैं। मीरां में जो नारी हृदय का जादूगर है उसी प्रकार के उद्गार आनंदघन में भी मिलते हैं परन्तु वहाँ इन उद्गारों को कवि रूपक रूप में आलेखित करता है। इसलिए मीरां के पदों में तादात्म्य और आनंदघन के पदों में तटस्थता का अनुभव होता है। मीरां की वेदना उनके हृदय से निकली हुई है, तो आनंदघन की वेदना मर्मज्ञ संत की वेदना है। आनंदघन की

66 : आनंदघन

भक्ति अखा की तरह है। उसमें ज्ञान के अनुषंग में आनेवाली भक्ति देखने को मिलती है। ज्ञान जब उच्च कोटि पर पहुँचता है तब अपने आप दर्शन होते हैं यह मीरां में दिखता है। आनंदघन की भक्ति तत्त्वज्ञान के अनुषंग से होनेवाली भक्ति है। इसलिए उनके रूपकों में रहस्यवाद देखने को मिलता है। इसके बावजूद मीरां जितनी तदाकारता और सचोटता आनंदघन अपने पदों में ला सके हैं यह पद रचनाकार के रूप में उनकी विशिष्ट सिद्धि मानी जा सकती है। पद के स्वरूप में मीरां ने भक्ति और आनंद की मस्ती लुटायी है। दोनों संत कवियों ने इन पदों में अपने आत्म अनुभव का बयान करने के साथ-साथ पद-साहित्य में अविस्मरणीय स्थान प्राप्त किये हैं।

अखा और आनंदघन

‘अक्षयरस’ बहाता हुआ अखा और ‘अनुभवलाली’ की मस्ती का गान करते हुए आनंदघन समकालीन तो थे ही लेकिन उससे भी ज्यादा दोनों में तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रहार करने की क्षमता, धर्माधता का विरोध और सत्य पिपासा की आरत का साम्य देखने को मिलता है।

आनंदघनजी के वैराग्य भाव को व्यक्त करती हुई लोककथाएँ प्राप्त होती हैं। इसी तरह से अखा के संसार त्याग को व्यक्त करती हुई भिन्न-भिन्न कथाएँ मिलती हैं। आनंदघनजी ने जिस तरह से मेड़ता में उपाश्रय का त्याग किया उसी तरह से अखा को भी सुनार के पेशे से नफरत हो जाने से औजार कुएँ में डाल दिए, ऐसी कथा प्रचलित है। दोनों संतों ने सत्य प्राप्ति के लिए सतत प्रयास किये हैं। सच्चे गुरु की खोज में दोनों संत बहुत घूमे हैं, आनंदघनजी को सच्चे गुरु की प्राप्ति नहीं हुई। उनको तो दिव्य नेनों से वस्तु-तत्त्व का चिंतन करने वालों का ‘विरह पड्यो निराधार’ लगता है। अखा को भी कहीं ऐसे सच्चे गुरु की प्राप्ति नहीं हुई इसलिए वे कहते हैं:

“गुरु कीधा में गोकुलनाथ, घरडा बड़द ने घाली नाथ;
धन हरे, धोखो नव हरे, ऐवो गुरु कल्याण शुं करे ?
पोते हरि ने न जाणे लेश, अने काढ़ी बेटो गुरुनो वेश,
ज्यम सापने घेर परोणो साप, मुख चाटी वळ्यो घेर आप
एवा गुरु घणां संसार, ते अखा शुं मूके भवपार ?
प्राप्त राम करे ते गुरु, बीजा गुरु ते लाग्या वरु,
धन हरे, धोख नव हरे, संबंध संसारी साचो करे।”

(जो राम (इष्टदेव) की प्राप्ति करावे या करें वही गुरु होता है। दूसरे गुरु तो लोमड़ी जैसे हैं। वे धन का अपहरण करते हैं। आपत्ति को दूर नहीं करता है और संसार के (स्वार्थी) सम्बन्धों को चरितार्थ करता है।)

अखा दंभी गुरुओं पर कटु वाणी के कोड़े बरसाता है, तो योगी आनंदघन सच्चे गुरु की प्राप्ति न होने पर स्तवनों में गहरा विषाद प्रकट करते हैं :

“आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विखवादा।”

(स्तवन : 4, गाथा : 3)

“श्रुत अनुसार विचारी बोलुं सुगुरु तथा विध न मिलई रे ।”

(स्तवन : 21, गाथा : 10)

सच्चिदानंद पाने के लिए गुरु की खोज तो बहुत की लेकिन कहीं भी सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई । कहीं दंभ देखा तो कहीं जड़ता । कहीं एकांत आग्रह की जिद पाई तो कहीं बाह्याडम्बर पाया । पारसमणि की तलाश की, लेकिन हर कहीं पत्थर पाया । सच्चे ज्ञान की लगन थी तभी मालूम हुआ कि सच्चा गुरु किसी मंदिर की दीवारों में, तर्क से पूर्ण ग्रंथों में या किसी भी प्रकार के क्रियाकांडों में नहीं बसा है । इन्सान का सच्चा गुरु उसकी आत्मा है, आध्यात्मिक अनुभूति की चरमसीमा तक पहुँचने के लिए एकलवीर की तरह प्रयाण करने के लिए दृढ़ता की आवश्यकता होती है । इस चरमभूमिका (चरमकक्षा) पर कोई गुरु या बाह्याडंबर व्यर्थ साबित होते हैं । आत्मा को स्वयं अपने ही प्रयासों से आत्मप्रतीति प्राप्त करनी होती है । जब स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप को ढूँढ़ निकालती है तब अंतरात्मा को कितना आनंद होता है । अखा कहता है :

“गुरु था तारो तुं ज, जुजवो को नथी भजवा ।

हूँ ए हूँ काढ्यो खोळी, भाई रे, हूँ ए हूँ काढ्यो खोळी ।”

(तुम अपने ही गुरु बनो । दूसरे किसी को भजने की आवश्यकता नहीं है । हे भाई मैंने यह सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला, मैंने यह सिद्धांत ढूँढ़ निकाला ।)

अखा की मस्ती इस पद में कितने लय में व्यक्त हुई है ? वही मस्ती आनंदघन के पदों में उतने ही गूढ़ ढंग से व्यक्त हुई है । जब आत्मस्वरूप में परमात्मभाव का अनुभव होता है, तब परमात्मस्वरूप प्राप्त आत्मा कितनी विरल मधुर दशा को प्राप्त होती है । आनंदघन सोलहवें ‘श्री शांति जिन स्तवन’ में ऐसी विलक्षण आत्मप्रतीति को अखा जैसे ही लहजे में कहते हैं :

“अहो हूँ अहो हूँ मुझ ने कहूँ, नमो मुझ नमो मुझ रे ।”

(स्तवन : 16, गाथा : 13)

आत्मसाक्षात्कार के बाद हृदय की धरती कैसे निराले रूप में सात्त्विक प्रभाव महकाती है । अज्ञान की कालरात्रि बीत चुकी हैं और ज्ञान के प्रकाश से हृदय जगमगा उठता है । उस उल्लासपूर्ण आत्मदर्शन का वर्णन करते हुए आनंदघनजी एक पद में कहते हैं :

“सुहागन ! जागी अनुभव प्रीत ।

निन्द अनादि अज्ञान की, मिट गई निज रीत । (1)

घट मंदिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरूप;

आप पराई आप ही, ढानप वस्तु अनूप ।” (2)

हृदयमंदिर में सहज रूप से प्रकाशरूपी दीपक प्रकट हुआ है; अतएव अनादिकाल के अज्ञान की निद्रा दूर हुई है । आनंदघन ने एक दूसरे पद में ‘मेरे घट ज्ञान भानु भयो भोर’ का गान किया है हृदय में ज्ञान रूप सूर्य के उदय होने पर उदित प्रभात की बात यहाँ है ।

परमतत्त्व की प्राप्ति का आनंद अखा ने अपने पदों में भरपूर व्यक्त किया है ।

68 : आनंदघन

अखा इस चैतन्य के विलास की मौज उड़ाते हुए कहते हैं - 'हुं हसतो रमतो हरिमां भळ्यो ।' और उस परम जीवन की प्राप्ति के आनंद को गाते हुए अखा मानों किसी चमत्कार का वर्णन करता हो इस तरह कहता है:

“छींडुं खोळता लाधी पोळ, हवे अखा कर झाकमझोळ ।”

इस तरह आनंद को आलेखित करते हुए अखा अपने पदों में गाता है कि “अभिनवो आनंद आज”, “आज आनंद मारा अंग मां ऊपज्यो”, “आज आनंदनां ओघ ऊलट्या घणां ।”

योगी आनंदघन का तो समग्र व्यक्तित्व आनंदमय हो गया है । अपनी आनंदावस्था का ज्ञान करते हुए कवि आनंदघन तो आनंदघन बनकर गाते हैं :

“मेरे प्रान आनंदघन, तान आनंदघन,
मात आनंदघन, तात आनंदघन,
गात आनंदघन, जात आनंदघन ।”

और यह अवस्था ऐसी है कि उसमें कहना और सुनना कुछ नहीं होता । यह तो अनुभव की चीज है । प्रेम का तीर जिसे लगे वही जाने । इसलिए आनंदघन कहते हैं कि यह ‘अकथ कहानी’ तो अनुभव से ही जानी जा सकती है :

अनुभव गौचर वस्तुकोरे, जाणघो यह इलाज,
कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे आनंदघन महाराज ।

अखा ने समाज की अज्ञानता, जड़ता और धर्मांधता पर ‘छप्पय’ के द्वारा प्रहार किया । समान की जड़ और निर्जीव रुढ़ियों का पालन करने की मनोवृत्ति और जड़ कर्मकांड में डूबे रहने के अज्ञान पर अट्टहास करते हुए अखा कहते हैं :

“तिलक करतां त्रेपन थयां, जप मालानां नाकां गयां,
तीरथ फरी फरी थाक्या चरण, तोय न पोहोता हरिने शरण ।”

इसी जड़ता का विरोध योगी आनंदघन अखा की व्यंग्यपूर्ण वाणी के बदले एक कहावत प्रयुक्त करके कहते हैं :

“शुद्ध सरधानं विण सर्व किरिआ सही,
छार पर लीपणो जाणो ।” (स्त. १४, गा. ५)

इन दोनों संतों ने शून्यवाद और चार्वाकवाद का कड़ा विरोध किया है । अखा शून्यवाद का उपहास उड़ाते हुए कहते हैं :

“हवे शून्यवादी ने शून्ये शून्य,
विश्व नहीं ने नहीं पाप पुन्य;
उत्पत्य नहीं, ने नहीं समास,
स्वपर नहीं, नहीं स्वामीदास;
एम धरते शून्यवादी खारो,
पण अखा न चाले शून्य ऊफरो ।”

योगी आनंदघन चार्वाकमत का खंडन करते हुए स्तवनों में गंभीरता से कहते हैं :

“भूत चतुष्क वरजी आतमतत्त,
सता अभगी न घटे,
अंध शकट जो निजर न निरखो
तो सु कीजे शकटै ।”

(स्तवन : 20, गाथा : 6)

उस समय सभी संप्रदाय तर्क-वितर्क में डूबे हुए थे। अपना ही मत सर्वश्रेष्ठ है इसकी स्थापना के लिए पक्षपात और तर्कबाजी चलती थी। अपने मत का ऐसा जुनून ऐसे योगियों और ज्ञानियों को कहाँ से पसंद आये ? मतमतांतर की इस लड़ाई में जिद का ही महत्व था। अतः ज्ञानी अखा ने और योगी आनंदघन अहर्निश अपनी शक्ति व्यर्थ में व्यय करने वालों पर सख्त नाराजगी व्यक्त की है। सच्चे धर्म को जाने बगैर अंधेरे कुँएँ में झगड़ते हुए लोगों जैसे ये मतवादी अखा को प्रतीत हैं :

“खटदर्शन ना जूजवा मता मांहोमांहे तेणे खाधी खता ।
एक नुं थाप्युं बीजो हणे, अन्यथी आपने अधिको गणे,
अखा ए अँधारो कूयो, झगड़ो भागी कोई न मूओ ।”

अखा खटदर्शन के जूजवा मत की जिद की आलोचना करते हैं, जबकि आनंदघनजी उस पर प्रहार करने के बदले इक्कीसवें ‘श्री नेमिनाथ जिन स्तवन’ में षड्दर्शन के छह मतों को जिनेश्वर के छह मतों को जिनेश्वर के छह अंगों के रूप में दिखाते हैं और इस तरह से उनकी व्यापक औदार्यपूर्ण समदृष्टि प्रकट होती है। वे भी अपने मत में मस्त रहनेवाले मनुष्यों की टीका करने वाले अखा की तरह कहते हैं :

“मत मत भेंदे रे जो जे पूछीइ
सहू थापे अहमेव ।”

(स्तवन : 4, गाथा : 1)

ये दोनों आलोचक दंभी और दंभ की आलोचना करते हैं। वे सच की कीमत खुद जानते हैं इसीलिए। आनंदघन भी अखा की तरह ठोककर कहते हैं :

“गच्छना भेद बहु नयण निहाणतां

तत्त्व नी वात करतां न लाजे ।”

(स्तवन : 14, गाथा : 3)

इस तरह से इन दोनों समकालीनों ने तत्कालीन समाज की रूढ़िवादिता और दंभ पर प्रहार किये हैं। उस प्रहार करने की रीति में दोनों के व्यक्तित्व की विशेषता अपने आप प्रकट होती है।

कहीं-कहीं तो अखा और आनंदघन एक जैसा ही उद्गार निकालते हैं। अखा कहते हैं कि केवल सच्चे गुरु के मिल जाने से बात समाप्त नहीं हो जाती। बैल को नाथ क्यों पहनाया जाता है ? उससे काम लेना आसान हो जाये इसलिए। इस दृष्टांत से अखा कहते हैं कि चित्त (मन) को भी नाथ (नथनी) पहनानी पड़ेगी। उसी मन को अंकुश में रखने की बात आनंदघन जी ने ‘श्री कुंथु जिन स्तवन’ में बड़े मजे के साथ कही है।

इस तरह से इन दोनों ने सच्चे आत्मज्ञानी की जो पहचान दी है वह समझने जैसी है। सच्चा साधु कपड़ों से नहीं, गुणों से पहचाना जाता है। स्वांग सज लेने से कोई साधु नहीं बन जाता। वेश बदल लेने से आत्मा की पहचान नहीं मिल जाती। ऐसे वेशधारी (स्वांगी) या बाह्याचार में लीन लोगों के लिए अखा कहते हैं :

“आतम समज्यो ते नर जती शुं थयुं धोणां भगवां वती ?
बोडे, त्रोडे, जोडे वाण, ए तों सर्व उपल्यो जंजाण ।”

आनंदघनजी इस तरह से, इसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि सच्चा आत्मज्ञानी ही श्रमण कहलाता है; अन्य सभी तो वेशाधारी (स्वांगी) ही माने जायेंगे। जो चीज को यथार्थ स्वरूप में दिखाता है वही सच्चा साधु माना जाता है :

“आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजो द्रव्यत लिंगी रे;
वस्तुगते जे वस्तु प्रकासें, आनंदघन-गत संगी रे ।”

(स्तवन : 12, गाथा : 6)

मध्यकालीन गुजराती साहित्य में धर्म के संदर्भ में जो जागरूकता और स्पष्ट कथन अखा में देखने को मिलते हैं, वैसी ही जागरूकता और स्पष्ट कथन आनंदघन में देखने को मिलते हैं। अखा घुमक्कड आदमी था तो आनंदघन विहार (भ्रमण करने वाले) साधु थे। अखा की वाणी में तीखी चोट का अनुभव होता है, तो आनंदघन की वाणी में गांभीर्य का अनुभव होता है। अखा ब्रह्मरस और ब्रह्मखुमारी (ब्रह्मानंद) का बयान करता है तो आनंदघन आत्मज्ञान और अनुभवलाली का रंग जमाता है। इन दोनों में कोई भी केवल कोरा शुष्कज्ञानी नहीं है।

‘ब्रह्मरस’ की गहन अनुभूति को व्यवहारिक जीवन के दृष्टांतों से अभिव्यक्त किया है। उसकी वाणी में वास्तविक जिंदगी से उपलब्ध उपमाओं की आतिशबाजी है, जबकि आनंदघन में वास्तविक जिंदगी की उपमाएँ या दृष्टांत प्रासंगिक हैं। आनंदघन में विशेष काव्यत्व है और उसका झुकाव रहस्यवाद की ओर है। अखा रहस्यवादी नहीं है परंतु तत्त्वज्ञानी है। अखा ने अपने काव्यों में वेदांत का तत्त्वज्ञान आलेखित किया है, जबकि आनंदघनजी ने जैन सम्प्रदाय की परिभाषा में ज्ञानबोध दिया है। आनंदघन में मस्ती वह स्थायीभाव है, जबकि अखा में मस्ती की झलकभर देखने को मिलती है। आनंदघन आत्मसाधना में मस्त योगी थे अतः सामाजिक सुधार के विषय में उनके काव्य में कुछ नहीं मिलता। अखा समाज और सामाजिक सुधार की ओर विशेष ध्यान रखता है। इसी कारण से उसकी वाणी में विशेष तीखापन दीखता है। अखा की भाषा रुक्ष और प्रहारात्मक है जबकि आनंदघन की भाषा उपेक्षाकृत मृदुल है। अखा में हास्य का प्रमाण भी अधिक देखने को मिलता है। आनंदघन में हास्य शायद ही दिखाई दे। इन दोनों सर्जकों ने पद के फलस्वरूप में उच्च आध्यात्मिक अनुभव डाला है। लेकिन अखा वेदांत की परिपाटी पर अध्यात्म अनुभव का आनंद व्यक्त करता है जबकि आनंदघन में कबीर और मीरां की तरह सहजभाव ही अध्यात्म - उपदेश देखने को मिलता है।

एक ही समय के फलक पर इस तरह से दो भिन्न प्रदेशों के ज्ञानी, अज्ञानी समाज को अपनी ज्ञानपूर्ण अनुभववाणी से प्रहार करके जागृत करने का प्रयत्न

करते हैं। मस्त साधकों की एक तरह से समाजलक्षी परमार्थ प्रवृत्ति थी।



टिप्पण

1. 'सन्त साहित्य और साधना', ले. भुवनेश्वर मिश्र माधव, प्रका : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, ई. स. 1966, पृ. 13
2. 'श्री आनंदघनजीनां पदो', भाग-२, ले. मोतीचंद कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, ई. स. 1956, पृ. 45
3. वही, पद 100, पृ. 432
4. वही, पृ. 138
5. 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद', ले. डॉ. वासुदेवसिंह, प्रका : समकालीन प्रकाशन, वाराणसी, ई. स. 1965, पृ. 110
6. 'श्री आनंदघनजीनां पदो', भाग-२, ले. मोतीचंद कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, ई. स. 1956, वही, पृ. *278)
7. वही, पृ. 499
8. वही, पृ. 440
9. वही, पृ. 976
10. मीरांना पदो, भूपेन्द्र बालकृष्ण त्रिवेदी, प्रका : एन. एम. त्रिपाठी प्रा. ली. मुंबई, 1962, पृ. 164-165
11. 'श्री आनंदघनजीनां पदो', भाग-२, ले. मोतीचंद कापड़िया, प्रकाशक : श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, ई. स. 1956, पृ. 396
12. वही, पृ. 394
13. वही, पृ. 926
14. वही, पृ. 249

संदर्भ ग्रंथसूची गुजराती

1. अध्यात्मयोगी श्री आनंदघनजीकृत चतुर्विंशति जिन स्तवन : प्र. सुश्रुत प्रसारक मंडल, खंभात. (1949)
2. अब हम अमर भये : (आनंदघन : जीवन अने कवन) : ले. कुमारपाल देसाई, जयभिरख्वु साहित्य ट्रस्ट प्रकाशन, अहमदावाद
3. आध्यात्मोपनिषद अथवा श्रीमद् आनंदघनजी महाराजकृत चोवीशी : ले. अने प्र. माणेकलाल घेलाभाई झवेरी (1912)
4. आनंदघन : श्री धनवंत ओझा, प्र. रवाणी प्रकाशन गृह, अमदावाद (1964)
5. आनंदघनकृत चोवीशी : छपावी प्रसिद्ध करनार शा. मनसुखभाई झवेरभाई, शा. मणिलाल रतनचंद, मु. कावीठा.
6. आनंदघनकृत चोवीशी (अर्थयुक्त) : प्रसिद्धकर्ता : श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर (1926)
7. आनंदघनकृत चोवीशी : अर्थयुक्त : श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. 1982
8. आनंदघनकृत चोवीशी (बालावबोध सहित) : प्र. शा. मगनलाल हठीसींग (1902)
9. आनंदघन चोवीशी याने अध्यात्म परमामृत : अनु. श्री मंगलजी उध्वजी शास्त्री. प्र. केशवलाल हरिचंद मोदी, साबरमती, अमदावाद (1951)
10. आनंदघननुं दिव्य जिन मार्गदर्शन अने प्रभुसेवानी प्रथम भूमिका : ले. विवेचक : डॉ. भगवानदास मनसुखभाई महेता. प्र. रतनचंद ख्रीमचंद (1955)
11. आनंदघन पद्मरत्नावली : विवेचक : श्री मोतीचंद गिरधरलाल कापड़ीया, प्र. श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
12. आनंदघन : एक अध्ययन, ले. प्रका. डॉ. कुमारपाळ देसाई, अहमदाबाद, ई. स. 1980, प्रथम आवृत्ति
13. आनंदघन बहोतरीनो बालावबोध : जैन प्रिन्टिंग प्रेस
14. गुजरातीओए हिंदीमां आपेलो फाळो : श्री डाह्याभाई पी. देरासरी

15. ગુજરાતી સાહિત્યના માર્ગસૂચક સ્તંભો : લે. કૃષ્ણલાલ મો. ઝવેરી, પ્ર. ગુજરાત વર્નાક્યુલર સોસાયટી, અમદાવાદ
16. ગુજરાતી સાહિત્યની વિકાસરેખા : લે. ધીરુભાઈ ઠાકર, પ્ર. ધી પોપ્યુલર બુક સ્ટોર, સૂરત (1970)
17. ગુજરાતી સાહિત્યનો ઇતિહાસ (ગ્રંથ-૧) : સં. ઉમાશંકર જોશી, અનંતરાય રાવલ, યશવંત શુક્લ, પ્ર. ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ, અમદાવાદ (1973)
18. ગુર્જર સાહિત્યસંગ્રહ : શ્રીમદ્ યશોવિજયોપાધ્યાય. પ્ર. શાહ બાલ્ચંદ ગોપાલજી, મુંબઈ (1936)
19. ચતુર્વિંશતી જૈનસ્તવન : સંશોધક અને પ્ર. ભીમસિંહ માળેક (1902)
20. જૈન કાવ્યદોહન (ભા. ૧) : સંગ્રહ કરી પ્રગટ કરનાર : શ્રી મનસુખલાલ રવજીભાઈ મહેતા, અહમદાબાદ (1913)
21. જૈન ગુર્જર કવિઓ : (ભા. ૧-૨-૩) પ્રયોજક : મો. દ. દેસાઈ. પ્ર. શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સ ઑફિસ, મુંબઈ.
22. જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ : લે. મો. દ. દેસાઈ, પ્ર. શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સ, મુંબઈ (1933)
23. મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં તત્ત્વવિચાર : લે. ડૉ. નિપુણ ઈ. પંડ્યા. પ્ર. અશોક પ્રકાશન, મુંબઈ (1968)
24. મધ્યયુગની સાધનાધારા : વ્યાખ્યાતા : આચાર્ય શ્રી ક્ષિતિમોહન સેન. અનુ. જયંતિલાલ આચાર્ય. પ્ર. ગુજરાત વિદ્યાસભા, અહમદાબાદ (1956)
25. મહાયોગી આનંદઘન : લે. વસંતલાલ કાંતિલાલ ડુશ્વરલાલ, પ્ર. શા. જશવંતલાલ સાંકલ્ચંદ (1966) પ્રથમ પુન:મુદ્રણ 1990, દ્વિતીય પુન:મુદ્રણ 2001
26. મહાવીર જૈન વિદ્યાલય રજત સ્મારકગ્રંથ : લેખ- 'અધ્યાત્મી શ્રી આનંદઘન અને શ્રી યશોવિજય' લે. મોહનલાલ દલીચંદ દેસાઈ, પ્ર. મહાવીર જૈન વિદ્યાલય, મુંબઈ.
27. રાયચંદ્ર જૈન કાવ્યમાલા : (ગુચ્છક ૧લો) સંગ્રહ અને સંશોધનકર્તા : શ્રી મનસુખલાલ રવજીભાઈ મહેતા. પ્ર. સનાતન જૈન કાર્યાલય, મુંબઈ (1908)
28. શ્રી આનંદઘન ચોવીસી : સં. શ્રી પ્રભુદાસ બેચરદાસ પારેચ. પ્ર. શ્રી જૈન શ્રેયસ્કર મંડલ, મહેસાણા, (1957)
29. શ્રી આનંદઘન ચોવીસી : સં. અને પ્ર. શ્રી પ્રભુદાસ બેચરદાસ પારેચ, રાજકોટ (1950)
30. શ્રી આનંદઘન ચોવીસી : વિવેચક શ્રી મોતીચંદ ગિરધરલાલ કાપડીયા, સં. શ્રી રતિલાલ દીપચંદ દેસાઈ, પ્ર. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય, મુંબઈ (1970)
31. શ્રી આનંદઘન પદસંગ્રહ ભાવાર્થ : શ્રીમદ્ બુદ્ધિસાગર સૂરીશ્વરજી, પ્ર. શ્રી અધ્યાત્મ જ્ઞાન પ્રસારક મંડલ, મુંબઈ (1954)

74 : आनंदघन

32. श्री आनंदघनजीनां पदो : (भा. १-२) श्री मोतीचंद गिरधरलाल कापड़ीया, प्र. श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई (1956)
33. श्री आनंदघन बहोतरनीनो बालावबोध : ले. श्री लालन, प्रसिद्धकर्ता : वीर परमात्माना साशननो जिज्ञासु (1902)
34. श्री आनंदघन : बाळ ग्रंथावलि (श्रेणी चोथी : पुस्तक 17) ले. नागकुमार मकाती, प्र. ज्योति कार्यालय, अहमदाबाद (1932)
35. श्री प्रकरण रत्नाकर : (भा. १) संशोधक अने प्रकाशक : श्री शाह भीमसिंह माणेक (1903)
36. योगनिष्ठ श्री आनंदघनजीनुं संक्षिप्त जीवन चरित्र अने विविध पराग : संयोजक श्री हरीलाल डी. शाह, ४, मधुवन सोसायटी, आश्रम रोड, अमदावाद-14
27. ऋषभ जिनेसर प्रितम माहरो रे... : आचार्य यशोविजयसूरि : प्रकाशक : आचार्यश्री ॐकारसुरीश्वरजी ज्ञानमंदिर, गोपीपुरा, सुरत

हिन्दी

1. आनंदघन : ले. प्रो. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रकाशक : हनुमान मंदिर न्यास, कलकता । (1970)
2. आनंदघन का रहस्यवाद : साध्वी सुदर्शना श्री, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड, वाराणसी (1984)
3. आनंदघन ग्रंथावलि-संग्रह एवं अर्थकार : उमरावचंद जैन जरगड, संपादक - महताबचंद खारैड विशारद, प्रकाशक श्री विजयचन्द्र जरगड - जयपुर - 3 (सं. 2031, सन 1975)
4. गुजरात के संतों की हिन्दी वाणी : डॉ. अम्बाशंकर नागर, गुर्जर भारती, अहमदाबाद ।
5. आनंदघन चौबीसी पर पदमान भाष्यरहित अध्यात्मदर्शन-मुनि नेमिचन्द्र, प्रकाशक- विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति, आगरा-२ (1969)
6. श्री आनंदघन चौबीसी (विवेचन) : आध्यात्मिक विकास की सोपान पंक्ति : विवेचनकार : पन्नालाल बनेचंद भंडारी, जलगांव, प्रकाशक : मनोहर पन्नालाल भंडारी, जलगांव
7. आनंदघन पदावली : संपादक - डॉ. हरीश शुक्ल, प्रा. राजन कडिया, मुद्रा प्रकाशन, महेसाणा (पुनःमुद्रण : 1992)
8. गुजरात के कवियों की हिन्दी साहित्य को देन : ले. डॉ. नटवरलाल अम्बालाल व्यास, प्रकाशक - विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (1967)
9. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ : ले. श्री अम्बाशंकर नागर, प्रकाशक: गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनउ (1964)

10. गुर्जर कवियों की हिन्दी साहित्य को देन : डॉ. हरीश शुक्ल
11. संत साहित्य : डॉ. सुदर्शन सिंह मजीठिया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
12. संतकवि आनंदघन एवं उनकी पदावलि : लेखिका एवं प्रकाशक श्रीमती मंजु महिमा भटनागर, अहमदाबाद-51 (2001)
13. संत साहित्य के प्रेरणास्रोत- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक - राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली-6 (1975)
14. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि : ले. डॉ. प्रेमसागर जैना प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी- (1964)
15. हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान : सं. डॉ. रामकुमार गुप्त, हिन्दी साहित्य परिषद
16. हिन्दी संत काव्यमें प्रतीक विधान : ले. डॉ. देवेन्द्र आर्य, प्रकाशक - इन्दु प्रकाशन - दिल्ली-51 (ई. 1971)
17. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) : ले. : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी - 1964, प्रकाशक - हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, मुंबई ।

लेख

1. “जैन मरमी आनंदघन का काव्य” : ले. आचार्य क्षितिमोहन सेन-अंक ‘वीणा’, पृ. 3 से 12 (1938)
2. “जैन योगीराज आनंदघनजी संबंधी कुछ ज्ञातव्य बातें” : ले. : श्री अग्रचन्द्र नाहटा, ‘जैन’, 18 अक्टूबर-69, वर्ष - 66, अंक - 39
3. “महान संत आनंदघन और उनकी रचनाओं पर विचार” : ले. श्री अग्रचंद्रजी नाहटा, अंक - ‘वीरवाणी’ 2/3



महायोगी आनंदघन (लगभग 1604-1674 ई.स.)ने पदों और स्तवनों की रचना की है । उनके स्तवनों में जैन धर्म का गहन सिद्धांत बोध और योगानुभव अभिव्यक्त है, जबकि पदों में धर्म संवेदनाओं का कवित्वमय उछाल, भावोन्मुख वाणी और बिजली की तरह अंतःस्फूर्त, उल्लास से भरपूर अनुभूति मिलती है ।

आनंदघन का ज्ञान स्वसंवेद्य ज्ञान है । निजानंद में रहने वाला ऐसा मस्त कवि किसी का अनुगामी नहीं होता परन्तु योग, वैराग्य और अध्यात्म से अपनी एक नवीन परम्परा का सर्जन करता है । वे इन स्तवनों में अध्यात्म मार्ग में आनेवाली समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं । जैन दर्शन में उनकी श्रद्धा दृढ रूप से निहित प्रतीत होती है । उस दर्शन का ही वे चित्रण करते हैं । इसलिए योग हो या अध्यात्म, वैराग्य हो या दर्शन प्रत्येक विषय में उनके तत्त्वविचार उच्च कोटि के प्रतीत होते हैं । योगमय अनुभवपूर्ण विचार, नैसर्गिक लाघवयुक्त वाणी और तत्त्वविचारों के कारण आनंदघन के ये स्तवन जैन परम्परा में अलग पहचान बनाते हैं और इस प्रकार के साहित्य में उच्च स्थान पर विराजित होते हैं ।

प्रस्तुत विनिबंध गुजराती साहित्य के विद्वान लेखक, गुजरात विश्वविद्यालय के कला संकाय के पूर्व डीन और जैन दर्शन के विशिष्ट कुमारपाल देसाई द्वारा लिखा गया है । देसाई के अनेक ग्रंथ गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित हुए हैं । साहित्य, शिक्षण, पत्रकारत्व, धर्मदर्शन, समाजसेवा, खेल-कूद इत्यादि के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है । भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से अलंकृत किया है ।

ANANDGHAN (Hindi), Rs.25-00
ISBN 81-260-2234-5



24 भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली साहित्य अकादेमी
विश्व की सबसे बड़ी प्रकाशन संस्था

website : <http://www.sahitya-akademi.gov.in>